राम गीता

स्वामी निरंजन

राम गीता

स्वामी निरंजनजी

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
प्रथम मुद्रण : **दशेहरा –२००४**
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर – २ (उड़िसा) फोन : २३४०१३६
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु 65/–**

भूमिका

संसार का प्रत्येक प्राणी अखंडानन्द की प्राप्ति एवं समस्त दु:खों के समूल नाश की इच्छा करता है । किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल मनुष्य जीवन में ही सम्भव हो पाती है । अन्य योनियों में जीव अखंडानन्द प्राप्ति हेतु कोई साधन नहीं कर पाता है, बल्कि मनुष्य जीवन में अज्ञान एवं अहंकार वश किये शुभाशुभ कर्मों का फलही चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ पाता रहता है ।

जब यह जीव वेद, शास्त्र, पुराणादि श्रवणकर सकाम कर्मों का फल दु:ख रूप जान लेता है तब वह उन समस्त सकाम कर्मों का फल सहित त्याग कर किसी सद्गुरु से अपने कल्याणार्थ श्रद्धा युक्त शरण ग्रहण कर मुक्ति के लिये प्रार्थना करता है कि, हे प्रभो ! मैंने अखंडानन्द प्राप्ति हेतु नाना प्रकार के कर्म, उपासना, योगादि साधन किये किन्तु मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिल सकी। हे गुरुदेव ! अब मैं सब ओर से निराश होकर दु:ख भोगता हुआ आपकी शरण में आया हूँ । अब मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि वह कौनसा सरल सहज साधन है जिसके द्वारा सब लोक एवं सब भोग अप्राप्त होने पर भी प्राप्त सा हो जाते है ? मैंने शास्त्रों द्वारा पढ़ा एवं जाना है कि

'तरति शोकं आत्मवित'

जो आत्मज्ञानी होते हैं वे शोक-मोह से पार हो जाते हैं । अतः हे नाथ ! मैं आपके शरणागत हूँ । धर्म कर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याण कारक हो वह मेरे लिये कहिये ।

कार्पण्य दोषोपहत स्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढ़चेता: ।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। –गीता २/७

इसी प्रकार चौदह वर्ष बनवास काल में राम की सेवा करने के पश्चात् जब लक्ष्मण को अपने संसार बन्धन एवं शोक-मोह से छूटने की प्रबल इच्छा हुई तब उन्होंने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्र से अपने कल्याण का साधन जानने की जिज्ञासा की । इस संवाद को ही यहाँ 'राम गीता' एवं हनुमान द्वारा यही जिज्ञासा करने पर सीता द्वारा जो उपदेश प्राप्त हुआ, उसे 'सीता गीता' नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में पाठक जान सकेंगे । ।

'गीता का मतलब जो गाया गया है । जो रचना कविता पद्य श्लोक रूप हो एवं गाकर सुनाई जा सके उसे गीता नाम से कहा जाता है किन्तु समस्त काव्य रचना को गीता नहीं माना जा सकेगा, बल्कि उस अंश को गीता कहा जाता है जिस में अध्यात्म विद्या सुनाई गई है । देह से भिन्न "तू आत्मा ही परमात्मा है" ऐसा बोध रूप गान ही गीता नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस प्रकार अनेक संवाद देखने को मिलते हैं । जैसे- महाभारत में अर्जुन गीता, भागवत में उद्धव गीता, पद्म पुराण में शिव गीता, पाण्डव गीता, उत्तर गीता, देवी गीता, दत्तात्रेय गीता, अष्टावक्र गीता, हंस गीता आदि ।

जिज्ञासु लक्ष्मण ने अपने मोह-निवृत्ति हेतु भगवान श्रीरामचन्द्र के सम्मुख दीन भाव से उपस्थित होकर जो उत्तर प्राप्त किया था उसका वर्णन अध्यात्म रामायण, उत्तराकाण्ड के पंचम सर्ग के अन्तर्गत संस्कृत भाषा में वर्णित हुआ है । उसी ब्रह्मविद्या को सरल हिन्दी भाषा में नाना युक्ति, द्रष्टान्त एवं प्रमाणों द्वारा यहाँ सुन्दर विचार माला रूप से वेदान्त शास्त्रानुसार प्रतिपादन करने का प्रयास किया है । इसकी सफलता तो जिज्ञासुओं के प्रारंभ से अन्ततक श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने पर ही निर्भर करती है । इस ग्रन्थ को सद्गुरु द्वारा स्वाध्याय करने वाले शिष्य को तो निश्चित ही सद्यो मोक्ष प्राप्त होगा । यदि ज्ञान प्राप्ति के पूर्व ही उसका देह नष्ट हो गया तो भी वह निश्चित ही पुनः किसी श्रीमान सदाचारी घर में या ज्ञानवान वैराग्य कुल में जन्म धारण कर सकेगा । फिर

वहाँ वह सद्गुरु द्वारा आत्मज्ञान लाभ कर कैवल्य मुक्ति प्राप्त कर सकेगा, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है । उस शुभेच्छुक का योगभ्रष्ट का नाश तो कभी हो ही नहीं सकता । ऐसा भगवान श्रीकृष्ण भी बतला रहे हैं ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।

हे पार्थ ! उस योगभ्रष्ट पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही उसकी जिज्ञासा नष्ट होती है । क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धार के लिये कर्म करने वाला कोई भी जिज्ञासु दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है । **–गीता ६/४०**

प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोऽभिजायते ।। ६।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। गीता ६/४२

परमात्मा प्राप्तिकी इच्छा रखने वाले जिज्ञासुका ज्ञानप्राप्त होने के पहले ही यदि देह त्याग हो जावे तो वह पुण्यवानों के लोक में अर्थात् वैकुण्ठादि लोकों में न जाकर शुद्ध आचरण वाले ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ।

स्वामी निरंजन

विषय सारणी

राम गीता महात्म्य

(ब्रह्मपुराणे उत्तराखण्डे राम गीता)

एकबार नारदजी ने ब्रह्माजी से पूछा, हे प्रभो ! शुभाशुभ कर्मों का वर्णन तो मैं आपसे सुन चुका हूँ । अब मुझे एक बात और सुनने की इच्छा है, वह गोपनीय होने पर भी आप सुनाने की कृपा करें । पुरुष सदाचार का मार्ग छोड़ दुराचार में फँस रहे हैं । ब्राह्मण धनार्जन हेतु ही वेदविद्या का पठन-पाठन करने लग गये हैं । क्षत्रिय वैश्य भी जाति कर्म रक्षा एवं पालन कार्य छोड़ भोले लोगों को ठगने में प्रवृत्त हो गये हैं । लोग माता-पिता, पति-पत्नी, गुरु आदि का सन्मान-सेवा छोड़ उनका निरादर करने लग गये हैं । इस चिन्ता से मेरा चित्त निरन्तर व्याकुल रहता है । अत: जिस सुगम उपाय से इन अधोगामी हो रहे लोगों का परम कल्याण हो, वह साधन आप मुझे बतलाइये । (१-१६, श्लोकों का सारांश)

देवर्षि नारदजी के ये परोपकारी वचन सुन ब्रह्माजी ने कहा-हे साधो ! पूर्वकाल में शंकर भगवान से पार्वतीजी ने भी इसी प्रकार लोक कल्याण हेतु प्रश्न किया था, तब अपनी प्रिया से श्री महादेवजी ने जिस गूढ रहस्य का वर्णन किया था वह अध्यात्म रामायण के उत्तरकाण्ड के पंचम सर्ग में 'रामगीता' के नाम से प्रसिद्ध है । उसका महात्म्य पूरा पूरा तो श्री महादेवजी ही जानते हैं; उनसे आधा पार्वती जानती है । और उनसे भी आधा मैं जानता हूँ, लेकिन उसे भी मैं पूरा कह नहीं सकता । उसमें से थोड़ा-सा तुम्हें सुनाता हूँ, जिसको श्रद्धा पूर्वक जानने मात्र से अशुद्ध चित्त तत्काल शुद्ध हो जाता है । (१७-१८ तथा ४६-४७-श्लोक का सारांश)

हे नारद ! संसार में ऐसा कोई पाप देखने में नहीं आता है जो **'राम गीता'** के श्रवण, मनन तथा ध्यान द्वारा नष्ट नहीं हो सकता । अर्थात् जीवके सभी पाप, ताप, सन्ताप इस 'रामगीता' के तत्त्व चिन्तन द्वारा नष्ट हो जाते हैं जो अन्य किसी भी तीर्थ, यज्ञ, पूजा, पाठ, मंत्र, दानादि साधन से भी नष्ट नहीं हो पाता हैं ।(४८ श्लोक भावार्थ)

भगवान् श्रीराम ने जिस ज्ञानामृत को उपनिषत्सागर का मन्थन कर निकाला और फिर बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने अपने भाई लक्ष्मण को पान कराया है, उसका श्रद्धायुक्त श्री सद्गुरु द्वारा श्रवण, मनन रूप पान करके जिज्ञासु अमृतत्त्व को लाभ करें । (४१ श्लोक भावार्थ)

हे नारद ! यदि कोई पुरुष ब्रह्महत्या आदि घोर पापों से मुक्त होना चाहे तो केवल एक माह राम गीता का पाठ करने से ही छूट सकता है ।।५२।। निकृष्ट वस्तुका दान, मांस मदिरा आदि निषिद्ध भोजन और असत्य भाषण से जो पाप होता है उसे इस रामगीता के श्रवण, मनन मात्र से नष्ट किया जा सकता है ।।५३।। जो मनुष्य श्राद्ध में 'राम गीता' का भक्ति पूर्वक पाठ करके ब्राह्मणों, असहाय विकलांगों, गरीब एवं पशुओं को उनके योग्य भोजन कराता है उसके वे समस्त पितृगण प्रसन्न हो जाते हैं ।।५६।

जो शम, दम, श्रद्धा पूर्वक 'राम गीता' रूप ब्रह्म विद्या का मनन ध्यान करता है वह स्वयं राम रूप ही है, उसकी समस्त देवगण पूजा करते हैं ।।५७।।

हे नारद ! 'राम गीता' द्वारा प्राप्त ब्रह्म ज्ञान ग्रहण करने वाला बिना किसी दान, ध्यान अथवा तीर्थ स्नान के ही अक्षय फल पाता है ।।५८।।

हे नारद ! और अधिक इस **'रामगीता'** के सम्बन्ध में क्या कहा जावे । वास्तविक बात यह है कि श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास आदि सैकड़ों शास्त्र इस 'राम गीता' के समान फल दायक नहीं है ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव सत्यं सत्यं मयोच्चते ।
ब्रह्म दीक्षां बिना देवि केवल्याय सुखाय च ।।

महानिर्वाण तंत्र ३/१२

हे पार्वती ! मैं सत्य कहता हूँ कि कलिकाल में सद्गुरु द्वारा ब्रह्म दीक्षा के बिना कैवल्य आनन्द कदापि सम्भव नहीं है ।

श्रवणायापि बहुर्भिया न लभ्य:
श्रृणवन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु: ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ।।

कठोपनिषद १.२.७

हे प्रिया ! यह ब्रह्मविद्या बहुत लोगों को तो श्रवण करने को भी प्राप्त नहीं होती है । बहुत से लोग सुनकर भी नहीं समझ पाते हैं । ऐसे इस गूढ़ तत्त्व का उपदेश करने वाला महापुरुष मिलना भी बहुत ही सौभाग्य एवं आश्चर्यमय घटना है । फिर इस गूढ़ज्ञान को श्रवण कर धारण करने वाला कोई एक ही होता है । इस तत्त्वकी उपलब्धी आचार्य द्वारा करके उसके अनुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले श्रोता भी जगत् में आप जैसे दुलर्भ ही होते हैं ।

सत्संगती दुर्लभ संसार । (रामायण)
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य: ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। गीता २/२९

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भांति देखता है और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही इसके तत्त्व का आश्चर्य की भांति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई जीव तो अन्त:करण की शुद्धि न होने से सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जान पाता है ।

' बड़े भाग्य पाइब सत्संगा'   (रामायण)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।।   गीता ७/१९

हे प्रिये ! बहुत-बहुत जन्मों के निष्काम कर्म एवं उपासना करने से शुद्ध हुए चित्त वाले को ही अन्तिम जन्म में यह सद्गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, जिसके बाद उस आत्मज्ञान को धारण करने वाले मुमुक्षु को पुन: जन्म-मृत्यु रूप संसार में नहीं आना पड़ता है । किन्तु इस तत्व का साक्षात् कराने वाले महात्मा का मिलना भी अति दुर्लभ है ।

स्नानं तेन समस्त तीर्थ सलिले दत्ताऽपि सर्वावनि
र्यज्ञानां च कृतं सदस्रमखिलाँ देवाश्च सम्पूजिता ।
संसाराच्च समुदधृता: स्वपितरसौलोक्य पूज्योऽप्य
यस्य ब्रह्म विचारेण क्षणामपि स्थैर्य मन: प्राप्नुयात् ।।

हे प्रिये ! जिस पुरुष का मन क्षणभर के लिये दृढता पूर्वक सोऽहम्, अह ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् धारणा में डट गया हो, वह गंगा आदि पवित्र तीर्थ स्थलों के जल में स्नान करने का पुण्य प्राप्त करता है । यही नहीं बल्कि ऐसा समझलो कि उसने वेद विहित समस्त महान् से महान् सम्पूर्ण यज्ञानुष्ठान कर लिये । सब देवताओं का उसने पूजन कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वी का दान उसने कर दिया तथा अपने पितरों के लिये श्रेष्ठ गति का द्वार खोलदिया और स्वयं को भी पूजन के योग्य एवं श्रद्धेय बना लिया । हे प्रिये । जिस ब्रह्मज्ञान के एक क्षणभर के चिन्तन का इतना महान् फल कहा गया है, यदि कोई जिज्ञासु 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी ब्रह्माकार वृत्ति निरन्तर देह निष्ठा की तरह रखे, तब उसके पुण्य की गणना 'भूतं न भविष्यति' कभी किसी के साथ न हुई, न है और न हो सकेगी ।

इसी प्रकार जो इससे विपरीत देह में मैं बुद्धि करता है उस महापातकी के पापों की भी गणना नहीं की जा सकती है ।

देहात्म बुद्धिजं पापं न तद्गोवध कोटिभिः ।
आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।। आत्म पुराण

अतः हे प्रियात्मन ! निश्चय करो–

'चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्'

इति श्री ब्रह्माण्ड पुराणे उत्तर खण्डे ५ अध्याय अध्यात्म रामायण पंचम सर्ग महात्म्यं सम्पूर्णम् ।

■■■

राम गीता

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभूं
राम रमालालित पाद पङ्कजम्
सौमित्रि रासादित शुद्ध भावन:
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ।।३।।

एक बार प्रभु सुख आसीना, लछमन वचन कहे छलहीना ।।
मोहि समझाई कहहुँ सोई देवा, सब तज करहूँ चरण रजसेवा ।

(रामायण)

जाते होई चरन रति शोक मोह भ्रमजाय ।।

एक समय भगवान श्रीराम को एकान्त में प्रसन्न मुद्रा-युक्त देख वैराग्यवर लक्ष्मण ने श्रद्धा भक्ति पूर्वक उन्हें साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर अति विनीत भाव से कहा-प्रभो ! मैंने सुना है कि:-

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि यजन्तु देवता: ।
आत्मैक्य बोधेन बिना विमुक्ति:
न सिद्धति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ।।

(वि:चुड़ा ६)

''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:''

चाहे कोई सुन्दर शास्त्रों की व्याख्या करे, चाहे कोई देवताओं की उपासना करे, चाहे कोई महान यज्ञ योगादि करे लेकिन जबतक आत्मा

और ब्रह्म की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ कल्पों में भी मोक्ष सिद्धि नहीं हो सकता । उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है । उस ज्ञान को सद्गुरु से जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर मोक्ष पाया जाता है ।

यदा चर्म वदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा:
तदा देवमविज्ञाय दु:खस्यान्तो भविष्यति ।।

श्वेता उप ५.२०

जिस प्रकार आकाश को मृगचर्म या चटाई वत् गोल लपेटना मनुष्यों के लिये असम्भव कार्य है, उसी प्रकार परमात्मा को आत्मरूप से जाने बिना कोई भी जीव इस दु:ख रूप संसार सागर से पार अखंडानन्द को प्राप्त नहीं कर सकता ।

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना–
मात्माऽस्यधीशोऽसि निराकृति: स्वयम् ।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्ज भृ‘ाहित स‘ सर्ि नाम् ।।४।।

हे महामते ! आप शुद्ध ज्ञान स्वरूप समस्त देहधारियों के आत्मा सबके स्वामी और स्वरूप से निराकार हैं ।

ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमस: परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

गीता १३/१७

माया से अत्यन्त परे ज्ञान स्वरूप जानने के योग्य एवं केवल तत्त्वज्ञान द्वारा सद्गुरु कृपा से ही प्राप्त करने योग्य अर्थात् निजात्म स्वरूप से जानने योग्य है ।

‘आचार्यवान् पुरुषो वेदः’

सामान्य रूप से सर्वत्र सम होने पर भी सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति ।।

श्वेता उप. ५/१४

वहाँ यह सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा तारागण समुदाय भी अपना प्रकाश नहीं फैला पाते हैं, फिर इस लौकिक अग्नि के पहुँचने की तो बात ही क्या है । यह सभी लौकिक प्रकाश पुंज तो आपके प्रकाश में उसी प्रकार लुप्त हो जाते हैं, जैसे दिन के १२ बजे सूर्य प्रकाश में अनन्त दीपकों का प्रकाश एवं तारों का दर्शन लुप्त हो जाता है ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम् ।।

गीता १५/६

अर्थात् जिस पद को मन, बुद्धि, वाणी प्रकाशित करने में असमर्थ है बल्कि जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्त:करण चतुष्टय अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं, वही परम धाम, परम पद, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध सबका निजात्म स्वरूप है ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

केनोपनिषद १/५

इस प्रकार के ब्रह्म स्वरूप को अज्ञानी जन नहीं जान पाते केवल उन्हीं भाग्यशाली भक्तों को परमात्मा प्राप्त होते हैं, जिन्हें आप कृपा करके ज्ञानदृष्टि प्रदान करते हैं ।

विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुष:

– गीता १५/१०

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतस: ।।

– गीता १५/११

मल, विक्षेप दोष से ग्रसित मलिन अन्त:करण वाले लोग वेदान्त तत्त्व के श्रवण, मनन साधन को छोड़ केवल सकाम कर्म करते रहने से परमात्मा को नहीं जान पाते हैं ।

हे प्रिये ! उस दिव्य ज्ञाननेत्र के अभाव में प्रयत्न करते हुए भी योगी जन प्राप्त ब्रह्म स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते हैं एवं अपने साधन बल से स्वर्ग, वैकुण्ठ तथा अपने इष्ट लोक से पुन: गिर जाते हैं ।

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुज प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्
यथा ञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम् ।।५।।

अत : संसार बन्धन से छुड़ाने वाले हे सद्गुरु ! मैं आपके चरण–कमलों की शरण में हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमता से ही इस महा भयानक अज्ञान रूपी महा समुद्रके पार हो जाऊँ ।

यं लब्धा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत: ।
यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

– गीता ६/२२

हे प्रभो ! परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं माना जाता है और जिसे एकबार सद्गुरु कृपा से अनुभव करके वह ज्ञान योगी बड़े से बड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता है, उस ब्रह्म विद्या का आप मुझे उपदेश करने की कृपा करें, ऐसी मेरी आपके चरणों में प्रार्थना है ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता : ।
सर्गोऽपी नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

हे प्रभो ! जिस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके आत्म स्वरूप को प्राप्त हुए पुरूष सृष्टिके आदि में पुन : उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी व्याकुल नहीं होते हैं, उस ब्रह्म विद्या रूपी ज्ञान अमृत का आप मुझे पान कराने की कृपा करें । ऐसी मेरी आप के चरणों में विनम्र प्रार्थना हैं ।

■■■

उपदेश प्रारंभ

श्रुत्वाऽथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्ति हर: प्रसन्न धि:
विज्ञानमज्ञानतम: प्रशायन्तये
श्रुति प्रपन्नं क्षितिपाल भूषण: ।।६।।

शरणागत वत्सल श्री गुरु रामजीने सभी बाते बहुत ही धैर्य से सुनकर प्रसन्न चित्त हो लक्ष्मण को उसके अज्ञान अन्धकार का नाश करने के लिये ज्ञानोपदेश करने लगे–

गुरुपसन्ति

हे लक्ष्मण ! :–

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई ।
जो बिरंची शकंर सम होई ।।
कर्णधार सद्‌गुरु दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।
तं विद्याद् दु:ख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। रामायण

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिता: क्रिया:
कृत्वा समासादितशुद्ध मानस: ।
समाप्य तत्पूर्व मुपात्त साधन:
समाश्रयेत्सर्गुरुमात्म लब्धये ।। ६ ।। गीता ६/२३

हे मुमुक्षु ! सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रम के लिये वेदोक्त कर्म उपासना द्वारा मल, विक्षेप इन दो दोषों की निवृत्ति के परिणाम स्वरूप आत्म जिज्ञासा उदय होने के बाद उन कर्म, उपासना सम्बन्धी वेद विधि का उलंधन कर देना चाहिये । क्योंकि

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धि र्विचारेण न किच्चित् कर्म कोटिभिः ।।

विवेक चू ११

निष्काम कर्म चित्त की शुद्धि के लिये तो आवश्यक है परन्तु आत्मानुभूति के लिये नहीं । आत्मानुभव तो केवल सद्गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्' 'शिवोऽहम्' विचार से ही होता है किन्तु करोंड़ों कर्मों से आत्म साक्षातकार कभी भी नहीं हो सकता।

परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

- १.२.१२ मुण्ड. उप.

हे लक्ष्मण ! सभी कर्मों का फल नाशवान् है यह जानकर मोक्षाभिलाषी को सब लोक एवं भोगों को दुःख रूप जान उनसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये । मुक्ति प्राप्ति के मुख्य साधन आत्म ज्ञान प्राप्ति हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सदगुरु की ही शरण ग्रहण करना चाहिये ।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शितः ।। संन्यास उप.

भावार्थ- कर्म जीव को आवागमन के जाल में फंसानेवाले हैं एवं आत्म ज्ञान रूप बह्म विद्या मुक्ति दिलाने वाली है ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म मनुप्रपन्ना गतागतं काम कामा लभन्ते ।।

– गीता : ९/२१

वे उस विशाल स्वर्ग लोक के भोगों को भोग कर पुण्य समाप्त होने पर पुन: वहाँ से इसी मृत्युलोक को नूतन कर्म करने के लिये फेंक दिये जाते हैं । इस प्रकार स्वर्ग के सुख की ओर आकर्षित कराने वाले तीनों वेदों के कहे हुए सकाम कर्मोंका आश्रय करने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार आवागमन को प्राप्त होते हैं । अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में पुनः आ जाते हैं ।

जैसे चकरी झूला नीचे से ऊपर लोगों को उठाकर ले जाता है एवं पुन: नीचे ले आता है या रेहटमाला में लगी बाल्टियाँ कूवें में नीचे से पानी भर ऊपर आती है एवं पानी खाली कर पुन: नीचे चली जाती है इसी प्रकार यह जीव कर्मानुसार बारम्बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त हो दु:ख पाता रहता है ।

हे लक्ष्मण ! तू लोक वासना का त्याग करदे । अज्ञानी लोग कर्म, उपासना के त्याग करने का कारण पूछे तो उनसे यही कहना कि हे भाई ! समाज में किसी के यहाँ सन्तान उत्पत्ति होने पर या मृत्यु होने पर अपवित्रता के कारण सन्ध्या उपासना नहीं की जाती है ।

मृतामोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतक द्वय सम्प्राप्तौ कथं स्नध्यामुपास्महे ।। मैत्रहि उप.

किन्तु मेरे यहाँ एक तो मेरी मोहमयी माता मर गई है एवं दूसरा ज्ञान पुत्र उत्पन्न हो गया है । अब तुम्ही कहो मेरे यहॅा एक साथ दो सूतक लगगये है मैं कैसे स्नध्या उपासना कर सकुंगा । तथा देवताओं की उपासना करने वाले को देवताओं का पशु भी कहा जाता है–

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावनन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवता ।

मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । **कठोपनिषद**

'द्वितीया द्वै भयं भवती' 'नेह नानास्ति किञ्चन्'

अर्थात् जो निजात्म स्वरूप परमात्मा को अन्य व्यक्ति, चित्र, मूर्ति रूप से उपासना करता है वह बारम्बार जन्म मृत्यू के भय को प्राप्त होता रहता है । यहा एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

हे लक्ष्मण ! कोई भी कर्म का कर्ता कर्म द्वारा (१) प्राप्ति (२) विकार (३) उत्पत्ति (४) संस्कार एवं (५) नाश रूप पांच प्रकार के ही लाभ ले सकता है । परमात्मानुभूति के लिये इन पांचों में से किसी भी कर्म का उपयोग नहीं हैं ।

सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा निजात्मा सर्व रूप, सर्व काल, सर्व देश में होते हुए भी अज्ञानी को अप्राप्ति रूप भासता है । यह आत्मा अनात्मा का अनन्योध्यास है अर्थात् आत्मा के सत, चित इन दो धर्मों ने अनात्म देह एवं अन्त:करण को ढक रखा है । इस कारण से देहादि सत एवं अन्तः करण चित भास रहे हैं । तथा अनात्मा के दो धर्म दु:ख एवं द्वैत ने आत्मा के आनन्द एवं अद्वैत इन दो धर्मों को आच्छादित कर रखा है, इसलिये मैं दु:खी एवं परमात्मा मुझसे भिन्न है ऐसा सभी लोगों को भ्रम हो रहा है । इस अध्यास का कारण अज्ञान ही है एवं अज्ञान का नाश एकमात्र आत्मज्ञान से ही होता है अन्य साधनों द्वारा नहीं ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ।।

– विवेक.चू.५६.

हे लक्ष्मण ! यह जन्म मरण से छुटकारा रूप कैवल्य मुक्ति न पातान्जल के अष्टांग योग से होती है, न कपिल के सांख्य दर्शन से । न

जैमिनी के कर्म काण्ड से और न देवताओं की भेद भक्ति रूप उपासना से । दुःखों कि आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष तो केवल किसी सद्गुरु की कृपा से श्रवण किये तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा उत्पन्न ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि द्वारा होता है । अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम् विचार द्वारा ही हो सकती है । अन्यथा अविद्या, कामना और कर्मादि बन्धनों से सौ करोड़ कल्पों में भी अपने स्वरूप ज्ञान के बिना अन्य कोई साधन मुक्त नहीं कर सकेगा ।

अतः-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

– गीता : ६/५

हे लक्ष्मण ! जीवको अपने द्वारा संसार-समुद्र से उद्धार करना चाहिये अर्थात् अपने को मोक्ष द्वार रूप मनुष्य जीवन से आत्म कल्याण का साधन ज्ञान प्राप्ति के लिये चेष्टा करना होगा । विषय भोगों में फंसकर जीवात्मा को अधोगति में न डालें । क्योंकि यह मनुष्य आप ही अपने कल्याण के मार्ग में अग्रसर होकर अपना सच्चा मित्र होता है एवं परिछिन्न लोक भोग में सुख मानकर आप ही अपना शत्रु रूप होता है । मानव का अपने से पृथक् हितकारी न कोई मित्र है न कोई विनाशकारी शत्रु है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ।।

– गीता : ४/३४

अतः हे लक्ष्मण ! उस गूढ़ आत्मतत्त्व के लाभार्थ किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में उनके उपयोगी वस्तु रूप समिधाकी भेंट लेकर जाना चाहिये । जो आत्म ज्ञान सम्बन्धी वेद शात्रों के मर्म को भली प्रकार जानते हैं एवं स्वयं उस लक्ष्य को प्राप्त कर चुके हैं ।

तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । मुंण्डे उप.१/२/१२

इस धर्ममय उपदेश को उन अनुभवी महापुरुष के द्वारा अतिशय श्रद्धा पूर्वक सुनना चाहिये । सुनकर मनन करना चाहिये तदनन्तर एकान्त में अभेद की साधक एवं भेद की बाधक युक्तियों द्वारा इस अद्वितीय ब्रह्म का **'अयमात्मा ब्रह्म', अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, शिवोऽहम्** रूप विचार करना चाहिये । तथा बुद्धि से विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करके, फिर इस महाकारण शरीर रूप आत्म निष्ठा को स्थिर करना चाहिये अर्थात् अपने प्रति देह, स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, हिन्दु, ब्राह्मण,उड़ीया, पंजाबी, गुजराती मारवाड़ी आदि इन अनात्म वृत्ति का त्याग कर मैं सच्चिदानन्द द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त अखंड, असंगात्मा हुँ इस प्रकार विचार करना चाहिये ।

'सोऽहमस्मि इति वृति अखंडा'

'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार निरन्तर धारणा बनाये रखना चाहिये । सद्गुरु से वेदान्त महावाक्यों के श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा शुद्ध आत्म निष्ठा प्राप्त हो जाती है । फिर उसे ज्ञात हो जाता है कि जिसे मैं अन्य जान ढूंढ रहा था वह परमात्मा मैं स्वयं आत्मा (अयमात्मा ब्रह्म) ही हूँ । तब उस आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाने से वह क्षणिक सुख के लिये देवी-देवता को प्रसन्न करने हेतु भेद मूलक कर्म, उपासना नहीं करता है । फिर उसे उन साधनों से उपरामता हो जाती है । जैसे किसी को महान् जलाशय की प्राप्ति हो जाने पर जल के लक्ष्य पूर्ति हेतु छोटे-छोटे जलाशयों की जरूरत नहीं रहती हैं ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।

– गीता २/४६

हे लक्ष्मण ! अज्ञानी लोग जिन क्षणिक सुख भोग के लिये नाना देवी देवताओं की उपासना करते हैं परन्तु उनसे प्राप्त वह फल नाशवान है तथा वे उन देवताओं को पूजने वाले उन देवताओं की गति को अर्थात् जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं ।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्यो ऽहमस्मीति
न स वेद यथा पशुरेवँ स देवता । (बृहदा. उप - १.४.१०)

'मामुपेत्य तु लक्ष्मण पुर्नजन्म न विद्वते'

- गीता (८/१६)

किन्तु हे प्रिय भाई लक्ष्मण ! आत्मानुभव करने वाले बुद्धिमान पुरुष अखंड, अविनाशी, परम गति को ही प्राप्त करते हैं ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।

- गीता १४ । १

समस्त विद्याओं में जो श्रेष्ठ एवं समस्त गोपनीय में जो परम गोपनीय आत्म ज्ञान है वह मैं तेरे लिये अवश्य कहूँगा, जिसको जानकर मुमुक्षु पुरुष इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं ।

हे प्रिय ! यह देव-दुर्लभ मानव शरीर केवल संचित् कर्मों के फल भोग हेतु ही नहीं अपितु जीव के कल्याणार्थ ही है । वेदों में सुख के श्रेय एवं प्रेय दो मार्ग बतलाये हैं । जो साधन दुःखों का समूल नाश एवं अखंडानन्द की प्राप्ति करा सकता है उस ज्ञान को श्रेय मार्ग कहते हैं एवं जो स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति, मकान, सम्मान, रूप इस लोक की एवं स्वर्गादि परलोक के भोग प्राप्ति के साधन रूप पूजा, पाठ, मन्दिर, तीर्थ, श्राद्ध, यज्ञ तपादि हैं वह सब प्रेय मार्ग के नामसे प्रसिद्ध है ।

अश्रद्दधाना : पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। - गीता ९/३

हे लक्ष्मण ! इस अति पवित्र, परम गोपनीय अति उत्तम प्रत्यक्षफल प्रदायक साधन करने में बड़ा सुगम धर्म में अश्रद्धा करने वाले मूढ़ पुरुष परमानन्द स्वरूप निज आत्मभाव को प्राप्त न होकर बारम्बार इस जन्म मृत्यु रूप ससांर चक्र में भ्रमण करते हुए दु:ख पाते रहते हैं ।

श्रेय मार्ग का साधक प्रेय मार्ग को छोड़कर अखंडानन्द को प्राप्त होते हैं किन्तु प्रेयमार्ग के साधक ज्ञान मार्ग को छोड़ क्षणिक विषय सुख प्राप्ति के साधनों में जीवन समर्पण कर देते हैं एवं बाद में गर्भ में पड़े पश्चात्ताप करते हैं ।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृत कर्म शुभाशुभम् ।
एकाकि तेन दह्येऽहं गतास्ते फल भोगिनः ।।

अहो दुखोदधौ मग्गनो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् ।। – गर्भ उप – ३४.

ओह ! मेरी कैसी मूढ़ता कि जिन लोगों के सुख हेतु मैंने नाना प्रकार के कष्ट सहकर शुभाशुभ कर्म करके उनको सुख पहुँचाया वे सब मुझे अकेला छोड़ कहां चले गये और मैं अकेला यहां नरकाग्नि में जल रहा हूँ । यहाँ से निकलने का भी कोई उपाय दिखाई नहीं पडता है ।

अहो ! कैसी मुसीबत में आ फंसा हूँ । यदि कोई मुझे इस गर्भ यन्त्रणा के दुःख सागर में डुबते हुए को बाहर करदे तो फिर मैं केवल परमात्मा की ही शरण ग्रहण करूंगा; एकमात्र उन्हीं का चिन्तन करूंगा ।

अधिकांश लोग तो ऐसे कुल, परिवार एवं वातावरण में जन्म लेते हैं कि उन्हें मृत्यु पर्यन्त आत्म तत्त्व श्रवण करने को भी नहीं मिलता है। यदि मिल भी जावे तो वे उसमें श्रद्धा नहीं करने के कारण ग्रहण भी नहीं कर पाते हैं । फिर इस आत्म तत्त्व के समझाने वाले महापुरुष भी बहुत ही कम होते हैं ।

स महात्मा सु दुर्लभः । – गीता ७/१९

हे लक्ष्मण ! जब कोई अज्ञानी गुरु रूप हो किसी जिज्ञासु का मार्ग दर्शक बन जाता है तो वह जिज्ञासु सद्‌मार्ग से भ्रष्ट हो जाने से अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता है । एवं चौरासी लाख योनियों में भ्रमित होता हुआ असहनीय कष्ट भोगता रहता है !

हे प्रिय ! जो अज्ञानी साधक अपने आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझता है और महापुरुषों के अमृत वचनों का, शास्त्र आदेशों का तिरस्कार करता है वह अमुल्य मानव जीवन को नष्ट कर महान विनाश को प्राप्त होता है ! कोई तीक्ष्ण बुद्धि वाले इस रहस्य को समझ लेते हैं और उनमें भी कोई आश्चर्य मय विरले वे होते हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्व को प्राप्त करके अपने जीवन की सफलता को प्राप्त किया हो ।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। – गीता ७/३

हजारों मनुष्यों में कोई एक आत्म तत्त्व का जिज्ञासु होता है और उन यत्न करने वाले मुमुक्षुओं में भी कोई एक निजात्म स्वरूप को परमात्मा रूप से जानता है ।

हे लक्ष्मण ! मैं इस बात को भली भाँति जानता हूँ कि कर्मों के फल स्वरूप इस लोक और परलोक के भोग समूह की जो निधि मिलती है वह चाहे किनती ही अपार, महान क्यों न हो, किन्तु एक दिन उसका नाश निश्चित है । अतएव वह अनित्य है । और यह सिद्धान्त है कि अनित्य साधनों से नित्य पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती । नित्य वस्तु आत्मा की प्राप्ति बिना ज्ञान नहीं होती ।

जिज्ञासायां संप्रवृत्ती नाद्रियेत कर्म चोदनाम्

भागवत : ११/१०/४

हे लक्ष्मण ! ज्ञान के लिये जिज्ञासा उपस्थित होनेपर अर्थात् **'मैं कौन हूँ', 'परमात्मा क्या है', मुक्ति की प्राप्ति किस प्रकार होगी ?** इस प्रकार के प्रश्न उठते ही बाह्य जड़ कर्मों का त्याग कर तत्काल किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की शरण में जावे एवं उसके द्वारा उपदिष्ट वाक्य पर श्रद्धा एवं मनन करें ।

हे आत्मन् ! यह आत्म तत्त्व समस्त सूक्ष्म विषय चिन्तन से भी अति सूक्ष्म है यह इतना गहन है कि जब तक इसे यथार्थ रूप से समझाने वाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तब तक जिज्ञासु का इस मन वाणी से परे तत्त्व में प्रवेश पाना अति कठिन ही नहीं असम्भव ही है । अल्पज्ञ , पंडित, वेशधारी महात्मा यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई सारे जीवन भी चलता रहे तो भी उसके समस्त साधनों का फल अतिशय दु:ख ही प्राप्त होता है कि लेकिन अखंडानन्द नहीं । ब्रह्म तत्त्व ऐसा भी नहीं है कि आप ही अपनी तर्क वितर्क बुद्धि द्वारा इसे समझ सके । अत: किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की शरण ग्रहण कर इसे सुनना परमावश्यक है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिन : ।।

गीता : ४/३४ ।

अत: हे लक्ष्मण ! समस्त दु:खों के समूल नाश एवं अखंडानन्दानुभूति के जिज्ञासु को धन, बल, पद, जाति, गुण, क्रिया आदि समस्त अहंकार का गुरु चरणों में मन से त्यागकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर उनसे विनम्र भाव से प्रार्थना करना चाहिये कि–

असतो मां सद्‌गमय !
तमसो मां ज्योतिर्गमय !!
मृत्युर्मा अमृतं गमय !!!

हे पतित पावन, करुणा सागर, दीनबन्धु ! मैं आपकी शरण में आया हूँ कृपया आप मुझे परमात्मा एवं धर्म के नाम फैले मिथ्या मार्गों, सम्प्रदायों, अन्ध विश्वासों एवं मताग्रहों के जाल से प्रबल युक्तियों द्वारा उनका खंडन कर परमात्मा एवं सत्य धर्म के प्रति श्रद्धा भक्ति जाग्रत कराने की कृपा करें यही मेरी आपके चरणों में भिक्षा है ।

आप मुझे अज्ञान अन्धकार से निकाल कर ज्ञान प्रकाश में लाने की कृपा करें । तथा प्राणियों से जाति भेद, भाषा भेद, प्रान्तिय भेद, सम्प्रदाय भेद, ईश्वर भेद ऊँच, नीच भाव मिटाकर सभी में एकात्म निश्चय कराने की कृपा करें ।

हे गुरुदेव ! मृत्यु रूप देहासक्ति से वैराग्य कराकर मुझे सच्चिदानन्द अमृत आत्मानुभूति कराने की कृपा करें ।

हे प्रिय ! जब महापुरुष इस प्रकार जिज्ञासु के मन में परम वैराग्य एवं सत्य जिज्ञासा को देखते हैं तब वे उसे जो उपदेश प्रदान करते हैं उसको श्रद्धा भक्ति पूर्वक ग्रहण करने से वह पुनः संसार बन्धन को प्राप्त नहीं होता है ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था:प्रकाशन्ते महात्मन: ।।

श्वेता. उपनिषद-६/२३

अज्ञान काल में जैसी श्रद्धा भक्ति परमात्मा के सगुण प्रतिमा की करते थे । मोक्ष के जिज्ञासु को उसी प्रकार किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की उपासना करना चाहिये । उसी के मन में, शास्त्रों के गूढ़ भावार्थ प्रकट होते हैं एवं वह बुद्धि के अगोचर आत्म तत्त्व का अनुभव करने में समर्थ हो पाता है ।

जो सद्गुरु की परमात्मा रूप में श्रद्धा भक्ति नहीं करते हैं और उनको साधारण पुरुष जान निंदा करते हैं, दोष दर्शन करते हैं वह उन

गुरुओं के द्वारा अहंकार रहित हुए अशुभ कर्मों का फल भोगता है एवं जो उनपर श्रद्धा–विश्वास करते हैं वे भक्त जन उनके द्वारा हुए शुभ कर्मों की अपार पुण्य राशि का सुख भोग करते हैं किन्तु वे महापुरुष सदा साक्षी भाव में रहने से किसी भी प्रकार की शुभाशुभ क्रिया का फल नहीं भोगते हैं ।

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँ ल्लोकान्न हन्ति न निवध्यते ।।

– गीता १८/१७

हे लक्ष्मण ! जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती है वह पुरुष इन सब लोकों को भोगकर भी वास्तव में नहीं भोगता हैं और न पाप से बन्धता है ।

अस्तु ! मोक्ष प्राप्ति हितार्थ सद्गुरु के निकट विवेक, वैराग्य, षट–सम्पत्ति तथा मुमुक्षता इन चार साधन सम्पन्न होकर ज्ञान के अन्तरंग साधन रूप महावाक्यों के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने हेतु जाना चाहिये ।

–: ज्ञान एवं कर्म की मीमांसा

क्रिया शरीरोद्भव हेतुरादृता
प्रिया प्रियौ तौ भक्तः सुरगिणा : ।
धमेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ।८।

हे वत्स ! कर्म कर्ता शुभाशुभ कर्मोंको करता है जिसके द्वारा पुण्य–पाप दोनों प्रकार के बीजाकुंर होते हैं, जिनके सुख–दु:ख रूप फल को भोगने हेतु जीव को तदानुसार स्थूल शरीर को धारण करना पड़ता है । जब वे अपने पूर्व कृत एक जन्म के शुभाशुभ संचित् कर्म फल भोगार्थ

जन्म ग्रहण करते हैं तब वे हजार जन्मों के क्रियमाण कर्मों का पुनः संग्रह करलेते हैं । इस प्रकार जीव के संचित् धन राशि में से प्रति जन्म में एक जीवन का ही भोग समाप्त होता है किन्तु नूतन हजार जन्म का अधिक संग्रह होता जाता है । फिर कोई भी शुभाशुभ सकाम कर्म बिना फल दिये नाश को प्राप्त नहीं होने से शुभ कर्म के फल स्वरूप शुभ योनि में एवं अशुभ कर्मो के फल स्वरूप अशुभ योनि में जीव जन्म ग्रहण करता है एवं फिर मरता हुआ संसार बन्धन में फंसा रहता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते लक्ष्मण ।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।

– गीता ४/३७

लेकिन किसी सद्गुरु की कृपा से जिस सौभाग्यवान् जीव को देह संघात् से भिन्न मैं अकर्ता, द्रष्टा, साक्षी, अभोक्ता, अजन्मा, अविनाशी, सदानन्द आत्मा हूँ ऐसी आत्मबोध रूप ज्ञानाग्नि प्रकट हो जाती है उस ज्ञान अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में अनादि कालीन समस्त संचित् एवं क्रियमाण कर्म राशि भस्मीभूत हो जाती है जिस प्रकार महान् इँधन राशि, प्रज्वलित अग्नि द्वारा भस्मीभूत हो जाती है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

– मुण्डक उप. २२/८

सद्गुरु कृपा से प्राप्त 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा इस जीव की बुद्धि से भेद भ्रान्ति, कर्ता–भोक्ता भ्रान्ति, संग भ्रान्ति, विकार भ्रान्ति तथा ब्रह्म से भिन्न जगत् के सत्यत्व की भ्रान्तियां यह मुख्य पंच तथा भेद भ्रान्ति में भी जीव–ईश्वर का भेद, जीव–जीव का परस्पर भेद, जीव–जड़ का भेद, जड़ –ईश्वर का भेद एवं जड़–जड़ का परस्पर भेद भी समाप्त हो जाता है । उस अद्वितीय परमात्मा को सोऽहम् रूप जानने

के कारण, इन समस्त भ्रान्तियों से जीव मुक्त हो अपने ब्रह्म स्वरूप में इसी जीवन में अभिन्नता का अनुभव कर पाता है । जिसके फल स्वरूप इसके अनादि कालीन समस्त संचित् एवं क्रियमाण कर्म बीजों का समूल नाश हो जाता है । ज्ञान होने के क्षण से यह देह रहने पर्यन्त जीवन्मुक्त दशा में रहता है तथा देह त्याग के पश्चात् विदेह मोक्ष रूप परमगति कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । किन्तु जबतक जीव अपने स्वरूप अज्ञान का नाश सद्गुरु द्वारा नहीं करा पाता है, तबतक इसके सृष्टि चक्र का अन्त नहीं हो पाता है ।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धान मेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।६ ।

हे लक्ष्मण ! संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और इन शास्त्रीय विधि वाक्यों में उस अनादि अज्ञान का नाश ही संसार बन्धन से मुक्त होने का उपाय कहा है । जैसे अन्धकार का नाश एक मात्र प्रकाश से ही सम्भव होता है अन्य करोड़ों उपाय द्वारा नहीं होता है उसी प्रकार निजात्मके स्वरूप अज्ञान का नाश करने में कर्म के (१) प्राप्ति (२) विकार (३) उत्पत्ति (४) संस्कार एवं (५) नाश इन पांचों प्रकार के साधनों से नहीं हो सकता । इस अज्ञान का नाश तो स्वरूप ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । अज्ञान से उत्पन्न होने वाले कर्म अपने जनक अज्ञान का नाश कभी नहीं कर सकेंगे । भला जो कार्य जिसके सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह अपने मूल अधिष्ठान का कैसे नाश कर सकेगा ?

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्तत: कर्म सदोष मुद्भवेत्
तत: पुन: संसृतिरप्यवारिता
तस्माद् बुधो ज्ञान विचारवान्भवेत् ।१०।

कर्म के द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का नाश नहीं हो सकता बल्कि उससे सदोष कर्म की ही उत्पत्ति होती है । जिससे पुनः जन्म-मृत्यु रूप संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है । इसलिये बुद्धिमान को ज्ञान विचार में ही तत्पर होना चाहिये ।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये (कैवल्य उप.)

इस हृदय स्थित बुद्धि के साक्षी को मैं रूप जान कर ही जीव मुक्ति को प्राप्त हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते - गीता : ४/३८

नहीं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना -रामायण

ज्ञानादेवं तु कैवल्यम्

अविचार कृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीव परमात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ।। (पंचदशी)

भावार्थ- अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान से ही संसार बन्धन है तथा अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप के दृढ़, निश्चय द्वारा मुक्ति है अतः सर्वदा मैं ब्रह्म हूँ ऐसा विचार जीवको करते रहना चाहिये ।

ऋतेः ज्ञानान्न मुक्ति -वेद

इस आत्मज्ञान से पवित्र एवं दुलर्भ तत्त्व जगत् में अन्य नहीं है । 'ज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है' ज्ञान बिना मुक्ति कभी नहीं हो सकती है ।

तपस्तीर्थं जपोदानं पवित्रानी तराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धि या ज्ञानकलया कृता ।।
तस्मात् ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वास्वात्मानम् लक्ष्मण ।
ज्ञान विज्ञान सम्पन्नो भज सोऽहमात्मारामः ।।

भागवत ११/१९/४-५ ।

हे लक्ष्मण ! तपस्या करके, पंचाग्नि तपके, तीर्थाटन करके जप करके, दानादि करके वह शुद्धि नहीं हो सकती जो कि सद्गुरु द्वारा ज्ञानोदय रूप सूर्य की एक किरण मात्र से हो जाती है । हे प्रिय ! तू कर्म, उपासना के फल में मत लुभा यह पुष्पवत् क्षणिक प्रसन्नता प्रदान कर अन्त में दुःख रूप ही सिद्ध होते हैं । अस्तु! तू इन समस्त भेद मूलक ज्ञान के बहिरंग कर्मों और उपासना का मन से त्याग कर एवं ज्ञान के अन्तरंग साधन रूप वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अपने ब्रह्मात्म स्वरूप को जान ।

हे प्रिय भाई लक्ष्मण ! एक बार मैंने अपने श्री गुरुदेव वशिष्ठ मुनि से ज्ञान एवं योग के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा की थी कि इन में कौन श्रेष्ठ है तब उन्होंने कहा कि कर्म तो कम्बल रूप है एवं ज्ञान रेशम की तरह है जिसे रेशम वस्त्र की प्राप्ति हो गई उसे टाट या कम्बल ग्रहण की इच्छा नहीं होती है। किन्तु जिसे रेशम रूप ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है उसके लिये कर्म कम्बल ही प्यारा एवं श्रेष्ठ है । जिसके फल स्वरूप वह दुष्कर्म से बच सत्कर्म कर स्वर्ग सुख का अधिकारी बनेगा एवं कालान्तर में पुनः मनुष्य जीवन पाकर सत्संग के प्रभाव से आत्म जिज्ञासा होनेपर ज्ञानाधिकारी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्म सर्ङिनाम्
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन ।

गीता : ३/२६

अद्वितीय परमात्मा का सोऽहम् रूप से अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह शास्त्र विहित कर्म, उपासना में आसक्त अज्ञानिओं को कर्म, उपासना के फलों को क्षणिक नाशवान बताकर उनको उनकी निष्ठा से विचलित न करे । बल्कि स्वयं के लिये कुछ कर्तव्य न होकर भी उनके कल्याणार्थ स्वयं करते हुए उनसे भी वैसे ही करवाये ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् –गीता ७/२३

अवश्य ही उन अल्प बुद्धि वालों का वह फल नाशवान है किन्तु वे अभी उस अविनाशी परमतत्त्व को अनुभव करने के अधिकारी नहीं हैं ।

द्वौ क्रमो चित्त नाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव ।
योगो वृत्ति निरोधोहि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।।

हे राम ! चित्त वृत्ति निरोध के दो उपाय है । एक योग और दूसरा ज्ञान । चित्त वृत्ति निरोध का नाम योग है एवं सर्वत्र एक परमात्म दर्शन का नाम ज्ञान है ।

'अभेद दर्शनं ज्ञानम्' मैत्रेय उप.

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्व निश्चयः ।
ममत्वाभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः ।।

योगवशिष्ठ :६/१/१३/८

हे प्रिय ! मेरे गुरु श्री वशिष्ठ मुनि ने मुझ से कहा – शारीरिक दुर्बलता के कारण या गृह जंजाल के कारण किसी के लिये योग साधन असम्भव है और बुद्धि की मंदता के कारण किसी को ज्ञान योग का विचार साधन असम्भव है किन्तु मेरे मत से हे राम ! ज्ञानयोग ही सबके लिये सुसाध्य है ।

श्रेयान्द्रव्यमाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते ।।

गीता ४/३३

हे परंतप लक्ष्मण ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ।

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।
अज्ञान मात्र संसिद्ध वस्तु ज्ञानेन नस्यति ।।

जो वस्तु केवल अज्ञान द्वारा उत्पन्न हुई है वह ज्ञान द्वारा ही नष्ट होती है अन्य करोड़ों उपायों द्वारा नहीं । जैसे अज्ञान एवं मंद अन्धकार दोष के कारण रस्सी में भासमान सर्प रस्सी के ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है । अर्थात् अधिष्ठान के अज्ञान से भासमान अध्यस्त की निवृत्ति, अधिष्ठान ज्ञान से ही होती है । उसी प्रकार अज्ञान से उत्पन्न संसार ज्ञान द्वारा अभाव रूप हो जाता है ।

हे प्रियात्मन ! कुछ अज्ञानी कर्मकाण्ड का आग्रह करते हैं एवं तर्क देते हैं कि जैसे ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार कर्मों द्वारा भी मुक्ति हो सकेगी किन्तु यह कुतर्क वेद विरुद्ध है ।

देहाभिमानाद भिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्धयति ।१४ ।

क्योंकि कर्म सदा देहाभिमान द्वारा होता है और ज्ञान अहंकार के नाश होने पर सिद्ध होता है ।

(१) यदि कोई यह तर्क दे कि पक्षी के दो पंखों की तरह मोक्षाभिलाषी को कर्म, उपासना एक पंख एवं ज्ञान दूसरा पंख मान ज्ञान और कर्म समुच्चय करना चाहिये । उनका यह कहना भी अनुचित है क्योंकि पक्षीको उड़कर जाने हेतु दो पखों की आवश्यकता है और वे दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं । किन्तु जीव को अन्यत्र कहीं जाना नहीं है बल्कि, अपने आत्मा को ही परमात्मा रूप जानना है । अतः उनका यह कहना असंगत ही है । ज्ञान एवं कर्म एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि ज्ञान अद्वैत भाव अहं ब्रह्मास्मि रूप है, जब कि कर्म उपास्य-उपासक, भक्त-भगवान रूप भेद भावना युक्त है । दोनों साधन दिन-रात की तरह परस्पर विरोधी होने से कर्म ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते हैं ।

'चित्तस्य शुद्धये कर्म'

ज्ञान के पूर्व तो मल–विक्षेप दोष निवृत्ति हेतु ज्ञानके बहिरंग साधन रूप कर्म, उपासना वेदान्त स्वीकार करता है किन्तु आत्म जिज्ञासा के पश्चात् उनको करने के लिये वेद शास्त्र भी निषेध करता है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्वते । –गीता ६/३

ज्ञानाधिकारी हो जाने पर सर्व कर्म, उपासना आदि साधनों का अभाव ही कल्याण में हेतु कहा जाता है । ज्ञानी के लिये तो कोई कर्तव्य है ही नहीं किन्तु मन्द जिज्ञासु या उत्तम जिज्ञासु हेतु भी कर्म, उपासना त्याज्य ही है ।

तस्य कार्यं न विद्यते । – गीता : ३/१७

१. पक्षी के पंख के साथ ज्ञान एवं कर्म को अनिवार्य बताने वाले इतने ना समझ है कि उन्हें यह भी पता नहीं की पक्षी का लक्ष्य स्थल उसे उड़कर जानेपर प्राप्त होगा किन्तु ज्ञानी की लक्ष्य वस्तु परमात्मा उससे भिन्न नहीं इसलिये पक्षी के पंख की तरह मुमुक्षु को कर्म एवं ज्ञान रूप दोनों पक्ष एक साथ ग्रहण करने की उसे आवश्यकता नहीं है ।

२. यदि कहो कि जैसे वृक्ष उत्पत्ति में जल हेतु है उसी प्रकार फलोत्पत्ति में भी जल हेतु है । इसी प्रकार कर्म, उपासना ज्ञानोप्तत्ति में जैसे सहायक है उसी प्रकार मुक्ति प्राप्ति में भी सहायक होगा । तो उनका यह तर्क भी असंगत है, क्योंकि जल वृक्षोत्पत्ति में तो सहायक है किन्तु फलोत्पत्ति में सहायक नहीं है । यदि जल फलोत्पत्ति में भी सहायक होता तो प्रत्येक वृक्ष फल देते होते किन्तु फल देनेवाले वृक्ष भी अपनी वृद्धावस्था या रुग्णावस्था में फल नहीं देते हैं । जलद्वारा वृक्ष उत्पत्ति तो होती है किन्तु फल उत्पन्न होना तो उस बीज के संस्कार पर निर्भर करता है । उसी प्रकार कर्म,उपासना द्वारा आत्म जिज्ञासा तो उदय होती

है किन्तु मुक्ति तो वेदान्त महावाक्य जन्य संस्कृत बुद्धि द्वारा विचार की परिपक्वता से ही होती है ।

३. यदि कोई कहे कि मुर्गी जैसे अण्डे की उत्पत्ति की हेतु है एवं वही उसके अंडे के द्वारा बच्चा उत्पन्न की भी हेतु है । उसी प्रकार कर्म, उपासना ज्ञानोत्पत्ति में हेतु होने के साथ मुक्ति फल में भी सहायक हो सकेगा । यह तर्क भी अज्ञान जन्य है । कयोंकि मुर्गी अण्डे की उत्पत्ति के बाद उस पर तभी तक बैठती है जब तक अंडा नहीं फटता है । जब अंडा फट जाता है बच्चे के पंख निकल आते हैं तब वह मुर्गी उस बच्चे के ऊपर से हट जाती है । यदि वह न हटे तो उत्पन्न बच्चे के पंख भी जल जावेंगे । इसी प्रकार कर्मोंपासना से उत्पन्न आत्म जिज्ञासा होने के बाद भी कर्म, उपासना करते रहे तो उत्पन्न आत्म जिज्ञासा भी नष्ट हो जावेगी एवं वही कर्म, उपासना रूप भेदोपासना में लग जावेगा एवं आत्म बोध होने से वंचित रह जावेगा ।

हे प्रिय ! मंद बुद्धि वाले को अदृढ़ ज्ञान संशय ज्ञान होने पर भी उसे अपनी ज्ञान की परिपक्वता हेतु उसी वेदान्त महा वाक्यों का सद्गुरु से बारम्बार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप साधन ही कर्तव्य है किन्तु मल, विक्षेप दोष होने पर भी श्रवणादिक का त्याग कर कर्म, उपासना साधन करने की किंचित् भी कर्तव्यता नहीं है । वह वेदान्त श्रवण द्वारा ही मल-विक्षेप दोष से मुक्त हो अपने आत्मा स्वरूप में दृढ़ हो जावेगा ।

विशुद्ध विज्ञान विरोचनाञ्चिता
विद्याऽत्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिल कारकादि भि
र्निहन्ति विद्याखिल कारकादिकम् ।१५।

वेदान्त वाक्यों का विचार करते-करते विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश में-उद्भासित जो चरम आत्म वृत्ति होती है, उसीका नाम विद्या याने आत्म

ज्ञान है । इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायता से होता है किन्तु विद्या समस्त कारकादिक का अर्थात् कर्म, कर्ता, क्रिया, फल, फलदाता, भोक्ता, समय, सामग्री आदि अनित्यत्व एवं भेद भावना का नाश कर देती है, जैसे प्रकाश के होते ही भ्रम भय एवं अंधकार का समूल नाश हो जाता है।

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषत: सुधी
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानु सन्धान परायण: सदा
निवृत्त सर्वेन्द्रिय वृत्ति गोचर: ।१६।

इसलिये समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा त्याग करदे, क्योंकि अद्वैत निष्ठ सोऽहम् का कर्म योग दासोऽहम् विरोधी होने के कारण–ज्ञान एवं कर्म का सम समुच्चय नहीं हो सकेगा । अज्ञानी लोग ही सम समुच्चय स्वीकार करते हैं; किन्तु वेदान्त केवल क्रम समुच्चय ही मानता है । एक साथ कर्म, उपासना, योग एवं ज्ञानादि करना सम समुच्चय है एवं मल, विक्षेप, आवरण दोषानुसार कर्म, उपासना तथा ज्ञान को क्रमश: स्वीकार करना क्रम समुच्चय कहलाता हैं । भेद उपासना को द्वैत ज्ञान कहते हैं क्योंकी उसमें 'दासोऽहम्' अर्थात् अपने को कर्म का कर्ता तथा किसी अज्ञात सत्ताको ईश्वर मान उसे अपने कर्म फलों का दाता मान उपासना करना है । तथा अहं ब्रह्म, सोऽहम्, मैं ब्रह्म हूँ यह अद्वैत धारणा होने से एक व्यक्ति द्वारा एकसाथ दो भाव नहीं हो सकते है । अस्तु ज्ञान विरोधी कर्म का सर्वथा त्याग करना ही मुमुक्षु के पक्ष में कर्तव्य है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृत्यस्य योगिन:
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेत न स तत्त्ववित्

– जाबालदर्शन उपनिषद्

हे प्रिय लक्ष्मण ! जो आत्मज्ञान रूपी अमृत द्वारा तृप्त है और जो आत्म ज्ञान करके कृत कृत्य हो चुका है उसको कुछ भी करने योग्य कर्म शेष नहीं है । यदि वह अपने को कर्म करने योग्य माने, कि मैनें आत्म ज्ञान प्राप्त तो कर लिया है किन्तु पूर्व कर्म, पूजा, उपासना, व्रत, यज्ञ, जपादि साधन नहीं करूँगा तो मुझे पाप लगेगा या मैं मुक्ति से गिर जाऊँगा तो समझना चाहिये कि अभी उसे शुद्धात्म बोध नहीं हुआ है ।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते' गीता : ६/४४

आत्म ज्ञान का जिज्ञासु भी वेदोक्त कर्म आज्ञा का उल्लंघन करके वर्तता है । अर्थात् जिज्ञासु के ऊपर भी कर्म कांड के विधि भाग की आज्ञा नहीं रहती है । तात्पर्य यह है कि वेद के कर्म काण्ड भाग की विधि (आज्ञा) अज्ञानी और सकामी लोगों के ऊपर है । अतएव हे प्रियात्मन लक्ष्मण ! यदि तुम आत्म जिज्ञासु हो तब भी तुम्हारे ऊपर वर्णाश्रमों के धर्मों के करने की आज्ञा नहीं है । कभी-कभी ज्ञानीजन कर्म काण्ड का सेवन लोक संग्रह हेतु करते हैं तो भी वे यह निश्चय से जानते हैं कि इन कर्मों एवं फलों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, यह सब अन्त:करण के धर्म है और मैं इसका साक्षी मात्र हूँ ।

यावच्छरीरादिषु माययाऽत्मधी
स्तावद्विधेयो विधिवाद कर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ।१७।

जब तक माया से मोहित रहने के कारण मनुष्य का शरीर में आत्म भाव है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शुद्र हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, गृहस्थी हूँ, संन्यासी हूँ, हिन्दु हूँ , मुसलमान हूँ, उड़ीया हूँ, मारवाड़ी हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, युवा हूँ, वृद्धा हूँ । जैसा जिसका जाति, आश्रमादिका अभिमान होता है वह वैसे ही कर्मों को करता है एवं उनके फल को

भोगता है । इस प्रकार मिथ्या देहाभिमान एवं कर्तृत्वाभिमान के कारण जीव एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होता है । और वही बन्धायमान कहा जाता है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणाम् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। गीता १३।२१

भावार्थ–देह प्रकृति में स्थित जीव प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का सही इस जीव को अच्छी–बुरी योनियोंमें जाने का कारण है ।

देहाभिमानाद्यत्पापं न तद् गोवधकोटिभिः
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम् ।।

अर्थात् देहाभिमान करने वाले पुरुष को जो पाप होता है वह पाप करोड़ों गौओं के वध करने से भी नहीं होता है । वेद में समस्त पापों का प्रायश्चित पाप कर्ताओं के लिये बतलाया गया है और पापी उन कर्मों के दुःख रूप फल भोग कर पाप से मुक्त हो जाते हैं । किन्तु देहाभिमानी के पाप से छुटकारा दिलाने हेतु वेद में आत्मज्ञान के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित नहीं है ।

किन्तु हे प्रिय ! जो जाति, वर्ण के धर्मों को अपना(आत्मा) मैं नहीं मानता बल्कि अपने को असंग, अखंड, निर्विकार नित्य–मुक्त और शुद्ध आत्मा ही जानता है वे बिना साधन इस ज्ञान मात्र से नित्य ही मुक्त है ।

अस्तु हे लक्ष्मण ! जबतक देहभाव है तभी तक उसके लिये वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है । 'नेति–तेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं का निषेध करके अपने ब्रह्मात्म स्वरूप को सोऽहम् रूप से जानलेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिये ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। गीता १४ / २

इस ज्ञांन को आश्रय करके अर्थात् निश्चय वृत्ति से धारण करके सोऽहम् भाव को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुन: उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी व्याकुल नहीं होते है ।

न रूपम स्येह तथोप लभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थ में नं सुविरूढ मुल समङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्वा ।।

– गीता १५ / ३

तत : पदं तत्परिमा र्गितव्यं यस्मिन्गाला न निवल न्तिभुय:
तमेवअद्दा परूष प्रपहा पत : प्रवृत्ति : प्रसृत पूराणी ।।

– गीता १५ / ४

इस संसार वृक्ष का जैसा वर्णन वेद शास्त्रों में जानने को मिलता है किन्तु अद्वितीय ब्रह्म ज्ञान विचार काल में ऐसा किंचित् भी देखने में नहीं आता है । अथवा स्वप्नकाल में जैसा विस्तार वाला जगत् दिखाई पड़ता है नींद टूट जाने पर वैसा कुछ भी नहीं दिखाई देता । इसलिये इस अहंता, ममता और वासना रूप अति दृढ़ मूल वाले संसार रूप अश्वस्थ वृक्ष को दृढ़ वैराग्य रूप शस्त्र द्वारा काट कर परमात्मा को खोजना चाहिये ।

यदा परात्मात्मविभेद भेदकं विज्ञानमात्मन्यव भाति मास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽज्ञासा सकारका कारण मात्म संसृतेः

।१८।

हे प्रिय ! जब किसी सद्गुरु की कृपा से ईश्वर एवं जीवात्मा का माया तथा अविद्या उपाधिकृत मिथ्या भेद भ्रम दूर हो जाता है एवं संशय रहित सोऽहम् धारणा अन्त:करण में दृढ हो जाती है । तब उसी समय जीव का जीवत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व तथा जगत् का सत्यत्व माया एवं अविद्या को मिथ्या जान लेने से समाप्त हो जाता है, तब यह जीव स्वयं शिव स्वरूप की अनुभूति कर उसी में लीन हो जाता है ।

ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति

श्रुति प्रमाणाभि विनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्य कारिणी ।
विज्ञानमातादललाद्वितीयत–
स्तस्माद विद्या न पुनर्भविष्यति ।।

हे आत्मन् ! जब एक बार भली प्रकार से प्रबल वेद प्रमाण **'नेह नानास्ति किंचन'** यहाँ एक ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यहाँ सबकुछ अणु–अणु ब्रह्म स्वरूप है । **'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'** एक एवं अद्वितीय ब्रह्म है । इस प्रकार के प्रबल प्रमाणों द्वारा भेद भ्रान्ति कराने वाली माया–अविद्या उपाधि का नाश हो जाता है । फिर वह अभाव रूप, नाश रूप अविद्या पुनः कैसे जीव को सृष्टि चक्र में फंसा सकेगी ? कभी नहीं । अतः तू यह चिन्ता मत कर कि कर्म–उपासना यदी मैं अज्ञान कालवत् जीवन पर्यन्त नहीं करूँगा तो नष्ट हुई अविद्या पुनः मुझे बन्धन में डाल देगी । ऐसा कदापि नहीं हो सकता । भला जिस शत्रु को अच्छी प्रकार रणक्षेत्र में मार दिया हो तो क्या वह मरा हुआ शत्रु पुनः अपने विजेता को हरा सकेगा?

अस्तु हे आत्मन् ! तू निर्भय होकर समस्त भेदोपासना रूप कर्म काण्ड का भली प्रकार त्याग कर एकमात्र 'अहं ब्रह्मास्मि',मैं ब्रह्म हूँ इस निर्मल अद्वितीय भाव को ही अपनी बुद्धि में धारणा कर । अविद्या पुनः तुझे स्पर्श उसी प्रकार नहीं कर सकेगी, जैसे सुर्योदय के स्थान पर अन्धकार प्रकट नहीं हो सकता ।

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसुयते
कर्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेज्ञते
विद्या विमोज्ञाय विभाति केवला । (२०)

हे लक्ष्मण ! जब सद्गुरु कृपा से महावाक्य जन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति से अविद्या जन्य मैं देह हूँ इस भाव का नाश हो जाता है तब वह जीव पुनर्बार जन्म को ग्रहण नहीं करता । मैं साक्षी द्रष्टा आत्मा हूँ -इस अखंड वृत्ति का नाश कर मैं कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा बद्ध जीव हूँ ऐसा विपर्यय अज्ञान कभी नहीं हो सकता ।

न योगेन न सांख्ये न कर्मणा नो न विद्यया
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्ष : सिध्यति नान्यथा

– वि. चुडा ५६

इसलिये मोक्ष हेतु ज्ञान स्वतन्त्र साधन है । उसके लिये अन्य कर्म, उपासना, योग आदि साधनों की आवश्यकता नहीं है । ज्ञान स्वयं ही अकेला अज्ञान अविद्या का नाश करनें में समर्थ है । जैसे अन्धकार के लिये एकमात्र प्रकाश ही समर्थ है ।

हे प्रिय ! जैसे आँख बन्द कर देने के बाद भी देखी वस्तु का कुछ क्षण रूप दर्शन होता रहता है, इसी प्रकार मैं मनुष्य हूँ अथवा कर्ता भोक्ता हूँ इस प्रकार की वृत्ति ज्ञान होने के बाद भी कभी-कभी मन में उदय होती रहती है । फिर भी इस प्रकार बाधितानुवृत्ति से ज्ञानी के ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस निष्ठा की हानि नहीं हो पाती है ।

हे आत्मन् ! 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीति रूप छोटे अपराध से श्रुति स्मृति के अकाट्य प्रमाणों से उत्पन्न ''मैं ब्रह्म हूँ'' रूप तत्त्व ज्ञान नष्ट नहीं होता है । इस मनुष्य बुद्धि को जपादि की तरह निरन्तर नियम पूर्वक दूर करने की आवश्यकता भी नहीं है । केवल मैं ब्रह्म हूँ इस सम्यक् ज्ञान द्वारा मैं शरीर हूँ, परमात्मा मुझसे भिन्न है, इस भ्रान्ति ज्ञान को ही दूर करने की आवश्यकता है । यदि व्यवहार काल में प्रबल प्रारब्ध के कारण कर्ता-भोक्ता भाव, सुखी-दु:खी भाव जाग्रत हो जावे तो उसके लिये कर्म, उपासना करने की जरूरत नहीं रहती वरन् तत्त्वज्ञान की ही आवृत्ति कर्तव्य

है । क्योंकि विपरीत भावना(विपर्यय) तत्त्वज्ञान होने के बाद भी प्रारब्ध कर्म भोग के प्रभाव से ज्ञानी महापुरूष के अन्त:करण में भी उदय-अस्त होती रहती है ।

हे लक्ष्मण ! सद्गुरु से प्राप्त इस तत्त्वज्ञान से पूर्व ही अज्ञानी को लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोगों की सिद्धि एवं मोक्ष सिद्धि के लिये बहुत से कर्तव्य होते हैं, किन्तु वे सब कर्तव्य इस आत्म ज्ञान के पश्चात् व्यर्थ हो जाते हैं । क्योंकि अब उसे लोक तथा ब्रह्म लोक पर्यन्त के भोग पदार्थो में सुख बुद्धि नहीं रहती है ।

हे प्रिय ! परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञादि शुभ कर्म करें परन्तु जिसे सद्गुरु कृपा से अपने अखंड, व्यापक, अणु-अणु, सर्व लोक, सर्व रूप, सर्वाधिष्ठान ब्रह्मात्म स्वरूप का दृढ निश्चय हो गया है, ऐसा तृप्त हुआ मनुष्य लोक परलोक के भोग पदार्थों से उतना ही प्रयोजन रखता है, जैसे भोजन से तृप्त व्यक्ति भोग पदार्थ के प्रति उपराम हो जाता है ।

सा तैत्तिरीय श्रुतिराह सादरं
न्यास प्रशस्ताखिल कर्मणां स्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ।२१।

हे प्रिय ! इसके अलावा तैतिरीय उपनिषद की प्रसिद्ध श्रुति **'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनेक अमृतत्त्व मानशुः'** भी स्पष्ट करती है कि समस्त कर्मों का भली प्रकार त्याग ही मोक्ष में उपयोगी है तथा अन्य अनेकों श्रुतियां कर्तव्य कर्म का निषेध ही बतलाती है जैसे **'तस्य कार्यं न विद्यते'** उस आत्मनिष्ठ के लिये वेदोक्त किसी कर्म, उपासना करने की आवश्यकता नहीं है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन : ।
नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित ।।

जाबाल दर्शन – ३४

यदि ज्ञानोदय पश्चात् भी कोई अपने कल्याणार्थ कर्म की कर्तव्यता मान कर कर्म करता है तो वह आत्मज्ञान को उपलब्ध नहीं हुआ है बल्कि उसे अज्ञानी देहाभिमानी ही जानना चाहिये ।

'ज्ञानादेवं तु कैवल्यम् ' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' 'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय'

इस प्रकार ज्ञान के बिना मुक्ति अनुभव करने का कोई अन्य उपाय शास्त्र नहीं बताते हैं । फिर आत्मज्ञानी क्यों किसी कामना को लेकर कर्म करेगा ? न उसे इहलोक की इच्छा होती है न परलोक की इच्छा रहती है ।

हे प्रिय ! प्राय: सभी लोगों को इहलोक की इच्छा १. शरीर रक्षार्थ २. विलासार्थ ३. पुत्र, शिष्य सम्प्रदाय आदि परिग्रह के रक्षार्थ होती है किन्तु आत्मज्ञानी शरीर रक्षा के लिये तनिक भी चिन्तित नहीं होना है क्योंकि वह जानता है कि ज्ञानी अज्ञानी सभी के देह का निर्वाह प्रारब्ध द्वारा होता रहता है ।

तुलसी निर्भय ज्ञान करो, जबलग दीपक बाती ।
तेल घटे बाती बुझे, सोवेंगे दिन राती ।।
दीप–देह । तेल–प्रारब्ध । बाती–प्राण
प्रारब्ध तो निमन्त्रण दिया, जब लग रहे शरीर ।
तुलसी तू मत सोच कर, जान साक्षी अशरीर ।।

सबको आत्मरूप जानने वाला तथा जगत् दर्पण में निजानन्द, निजात्म स्वरूप को देखने वाला अन्य वस्तु के प्रति विलास बुद्धि भी नहीं होती है ।

परिग्रह के रक्षार्थ भी विद्वान् कर्म नहीं करता क्योंकि वह पुत्र, वित्त तथा लोक वासनाओं से ऊपर उठ चुका है इस प्रकार उपरोक्त तीनों इच्छाओं के अभाव में इस लोकार्थ वह कर्म करने के लिये अग्रसर नहीं होता ।

हे आत्मन् ! परलोक सम्बन्ध में भी वही व्यक्ति कर्म करने की रुचि रखता है, जिसे अन्तःकरण शुद्धि करना हो या स्वर्ग–अपवर्ग की इच्छा हो ।

ज्ञानी का अन्त:करण शुद्ध ही है तभी तो उसे आत्म जिज्ञासा 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' उदय हुई एवं सद्गुरु के निकट जाकर आत्म निष्ठा को प्राप्त किया, इसलिए उसे कर्म करने की भी इच्छा नहीं होती है ।

''आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन''

– ८/१६ : गीता

ज्ञानी स्वर्ग वैकुण्ठादि लोकों को भी क्षणिक सुखदायी एवं परिणाम में दु:ख दायी जान चुका है इसलिये उसे परलोक सम्बन्धी इच्छा न होने के कारण उसे अज्ञानी की तरह कर्मासक्ति नहीं होती है ।

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृत: सम: ।
फलै: पृथकत्वाद्बहुकारकै: क्रतु:
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ।२२।

हे प्रिय ! यदि तुम ज्ञान एवं यज्ञादि कर्मों को पक्षी के पंख की तरह सम समुच्चयवाद की कल्पना करते हो तो वह ठीक नहीं हैं । क्योंकि ज्ञान एवं कर्म दोनों की निष्ठाएँ पूर्व–पश्चिम दिशावत् भिन्न है । ज्ञान तो परमात्मा को अभेद रूप निश्चय करने में हैं एवं कर्म में तो अपने को यज्ञादि जड़ क्रियाओं का कर्ता, तथा अपने से भिन्न कर्म फल ईश्वर को

मानने से सिद्ध होता है । जबकि ब्रह्म ज्ञान इस निष्ठा से विपरीत है अर्थात् उसमें न जीव कर्ता है न ईश्वर फलदाता उस मुमुक्षु से भिन्न होता है बल्कि वह मुक्ति पदार्थ तो किसी ज्ञानी महापुरुष द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दृढ धारणा का नाम है । अनित्य कर्मों से प्राप्त फल कभी नित्यानन्द रूप नहीं हो सकते ।

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी– रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिन:
तस्माद् बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि–र्विधानत: कर्म विधि प्रकाशितम्
।२३।

हे लक्ष्मण ! यदि तू ऐसा भय करता है कि वेद विहित कर्मों के त्याग करने से मैं अवश्य दण्डनीय होऊँगा, सो ऐसी अनात्म बुद्धि आत्म ज्ञानियों को नहीं होती है । जो देहाभिमानी हैं उनके लिये ही वेद कर्म का विधान करता है एवं न करने वालों को ही भय बुद्धि होती है । ज्ञानी पुरुष निषिद्ध कर्मों को तो करता ही नहीं बल्कि विहित कर्मों का भी त्याग कर देता है ।

'सर्व धर्मान्परित्यज्य' –गीता : १८ / ६६

उनके लिये शास्त्र सभी बाह्य व आन्तरिक धर्मों का त्याग ही कर्तव्य बताता है ।

–गीता : १५ / ६६

योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते

–गीता : ६/३

योगारूढ पुरुष को तो समस्त कर्मों का त्याग ही कल्याण का हेतु कहा जाता है ।

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्ति रार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।

–गीता : १८/४२

उस ज्ञानी पुरुष का तो आत्म जिज्ञासा काल में ही मनोनिग्रह, इन्द्रिय निग्रह हो जाने के कारण वह मुमुक्षु बाह्य प्रवृत्तियों से उपराम हो जाता है एवं निरन्तर ब्रह्मात्मैक्य तत्त्व चिन्तन या अनुसन्धान में ही अनुरक्त रहता है।

'कर्म कि होंही स्वरूप ही चीह्ने'

फिर भला जिसने अपने साक्षी ब्रह्म स्वरूप को सद्गुरु की कृपा से भली प्रकार जान लिया है वह क्या अपने को कर्ता-भोक्ता जीव मान अपने से पृथक् किसी ईश्वर को फल प्रदाता मान फलासक्ति से कर्म कर सकेगा ? कदापि नहीं । हाँ ! जिसे सद्गुरु की प्राप्ति एवं आत्म बोध नहीं हुआ है ऐसा देह, जाति, आश्रम अनात्माभिमानी अपने वासना एवं फलेच्छा के लिये भेद भाव मूलक कर्म-उपासना का आश्रय ग्रहण करता है ।

हे प्रिय ! तत्त्वज्ञानी तो निरंकुश होता है उसके ऊपर शास्त्र का किसी प्रकार आदेश नहीं चलता है । शास्त्र तो केवल अधर्मी, दुराचारी, पापी लोगों को धर्माचारी, सदाचारी, निष्पाप मार्गानुयायी बनाने हेतु है ताकि वे निष्काम कर्म द्वारा अन्त:करण की शुद्धि कर ज्ञानाधिकारी हो मोक्ष प्राप्त कर सकें । अथवा सकाम कर्म द्वारा अधोगति से बच सके ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

– गीता : ४/८

लेकिन जो पहले ही धर्माचारी, सदाचारी, निष्पाप साधु पुरुष है उनके लिये तो दूसरी ही विधि है और वह है-

'सर्व धर्मान्परित्ज्य मामेकं शरणं ब्रज '

– गीता : १८ ६६

जिस प्रकार अज्ञानी को आदेश करने वाले शास्त्र होतो हैं वैसा आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुषों के लिये नहीं है । शास्त्र तो स्वयं उन ज्ञानी पुरुषों

का आचरण, दिनचर्या, उच्चिष्ट है, वही अज्ञानी के लिये कर्तव्य,आदेश एवं साधना बन जाता है ।

सर्वश्रुति शिरोरत्न विराजित पदांबुजः ।
वेदान्ताम्बुज मार्तण्डं येनतस्मै श्री गुरवे नमः ।।

गुरुगीता ६८

हे प्रिय ! जिनके चरण-कमल सब वेदों के मुकुटमणि रूप महावाक्यों से सुशोभित हैं, और जो वेदान्त रूप कमल पुष्प को विकसित करने के लिये सूर्य के समान तेजस्वी हैं उन श्री गुरुदेव वशिष्ठ जी को मैं नमस्कार करता हूँ । धन्य है मेरे सद्गुरु एवं उनका बताया हुआ यह आत्मज्ञान, जिसके फलस्वरूप मुझे इस प्रकार महान् तृप्ति मिली है ।

हे आत्मन् ! तत्त्वज्ञानी अपनी कृत कृत्यता से सन्तुष्ट होकर मस्त विचरता है । और यही अनुभव करता है कि मैं अपने करने योग्य सब कर चुका एवं पाने योग्य सब पा चुका । अब मेरे लिये किंचित् भी कर्तव्य नहीं है। उसके द्वारा कर्म होने पर भी उस कर्म को प्रारब्धानुसार देह संघात् का धर्म ही जानता है एवं अपनेको सदा उन क्रियाओं, वृत्तियों, अवस्थाओं का साक्षी ही जानता है ।

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्

गीता ५/८

वह अपने को किसी कर्म का कर्ता नहीं देखता है और न किसी कर्म के फल का भोक्ता ही जानता है । ज्ञानी पुरुष प्रकृति को ही समस्त कर्मों का कर्ता जानता है ।

'गुणा गुणेषु वर्तन्त' इति मत्वा न सज्जते ।।

गीता ३/२८

नान्यं गुणेभ्य : कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।

गीता १४ /१९

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।।

गीता ३/२७

प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

गीता २३/२९

अस्तु हे प्रियात्मन ! देह, जाति, आश्रम के अभिमान से रहित आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुष को तो स्वयं विहित कर्मों का भी त्याग कर जिज्ञासुओं के लिये उनके द्वैत निष्ठा को भली प्रकार खंडन कर अद्वैत निष्ठा को दृढीभूत करावे । किन्तु स्वयं भेद मूलक कर्म, उपासना करके उनके मन में कर्म उपासना तथा ज्ञान के मिश्रण का भ्रम पैदा न करे ।

किन्तु हे प्रिय ! जब तत्त्वज्ञानी, अज्ञानी जनों के मध्य वास करता हो तब उसे उन अज्ञानियों के कर्म साधना में अश्रद्धा उत्पन्न न करावे न उनके मध्य ठहरे । यदि उनके मध्य ठहरेगा एवं अज्ञानी उसे विहित कर्म उपासना का सेवन करते हुए नहीं देखेंगे, तो वे अज्ञानी जन भी अनिवार्य कर्म साधना किये बिना, आत्म जिज्ञासा उदय होने से पूर्व ही छोड़ देगें । जिससे वे उभय पथ भ्रष्ट होगें । अर्थात् न तो उनके अन्त:करण की शुद्धि हो पावेगी और न वे ज्ञान ग्रहण कर पावेंगे । अत:-

प्रकृतेगुण संमूढ़ाः सज्जन्ते गुण कर्मसु ।
तानकृत्स्न विदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।

गीता ३/२९

अज्ञानियोंके मध्य ज्ञानी अपने लिये कर्म साधना कर्तव्य न होने से भी उनकी कर्म निष्ठा को दृढ़ीभूत कराने हेतु उन्हीं के जैसा होकर रहे, उनके कर्म साधना का खंडन न करे । बल्कि युक्ति पूर्वक धीरे-धीरे

सदोपदेश करे । जिससे उन्हें कालान्तर में आत्म जिज्ञासा उदय हो जावेगी । तब वे स्वयं कर्म से उपराम हो सद्गुरु की शरण खोज आत्मज्ञानार्जन कर मुक्ति लाभ कर सकेंगे।

किन्तु आत्म निष्ठ पुरुष को तो उन सभी कर्म एवं फलों का मन से त्याग ही कर देना चाहिये । अज्ञानी की कर्म में श्रद्धा देख स्वयं योगारूढ़ होकर आरूढ़ पतित न होवे अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि निष्ठा को प्राप्त कर पुनः द्वैत निष्ठाके कूप में न गिरे ।

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो में,
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासाकुतो में
नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो में
नाहं कर्ता बन्ध मोक्षौ कुतो में

अर्थात् जब मैं देह नहीं तब जन्म मृत्यु मेरा कहाँ, जब मैं प्राण नहीं तब भूख प्यास भी मेरा कहाँ, जब मैं मन नहीं तो शोक, मोह मुझे कहाँ और जब मैं कर्ता जीव नहीं तब बन्ध मोक्ष मुझे कहाँ हैं ?

■■■

महावाक्य विचार

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्ध मानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः ।२४ ।

हे आत्मन् ! कर्म, उपासना द्वारा जब जीव का अन्तःकरण शुद्ध हो, आत्म जिज्ञासा उदय हो जावेगी, तब वह मुमुक्षु, विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति से युक्त हो किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाता है ।

वेद के तात्पर्य को दर्शाने वाले **''तत्त्वमसि'', अयमात्मा ब्रह्म, ''प्रज्ञानं ब्रह्म''**, आदि महावाक्यों का सदगुरु द्वारा उपदेश प्राप्त कर मुमुक्षु को **''सोऽहम्'' ''शिवोऽहम्'' ''अहं ब्रह्मास्मि''** के रूप में अनुभव करना चाहिये । देह भाव की तरह दृढ़ आत्म निष्ठा रख सुमेरु पर्वत वत् अचल एवं समुद्र वत् गम्भीर परमानन्द का अनुभव करना चाहिये ।

जिज्ञासु लक्ष्मण ने कहा– हे प्रभो ! यह महावाक्य क्या है ? इसे मुझे समझाने की कृपा करें ।

भगवान श्रीराम ने कहा– हे लक्ष्मण वाक्य दो प्रकार के होते हैं– एक अवान्तर वाक्य तथा दूसरा महावाक्य ।

लक्ष्मण ने कहा यह अवान्तर वाक्य किसे कहते है एवं इसका क्या उपयोग है ?

भगवान श्रीराम ने कहा– हे लक्ष्मण ! अब तू ध्यान पूर्वक इन अवान्तर तथा महावाक्यों का अर्थ एवं तात्पर्य समझ ।

जिस वाक्य द्वारा केवल ब्रह्मसत्ता का प्रतिपादन किया जाता है, ऐसे वाक्य को अवान्तर वाक्य कहा जाता है । **जैसे 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं आनन्दं ब्रह्म** । ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है । इस प्रकार के कथन से अज्ञानी के मन से ब्रह्म के प्रति असत्वापादक आवरण दूर हो जाते है ।

लक्ष्मण- हे भगवन् ! यह असत्वापादक आवरण क्या है ? श्रीराम ने कहा- हे लक्ष्मण ! जिस मन्द बुद्धि वाले के मन में परमात्मा के प्रति असत् बुद्धि भ्रम है, कि ब्रह्म नहीं है परमात्मा नहीं है, उसके इस असत्वापादक आवरण को दूर करने के लिये ब्रह्मसत्ता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य को अवान्तर वाक्य कहा जाता है कि - हे जिज्ञासु ! ब्रह्म है और वह सत, चित आनन्द स्वरूप है । तब जिज्ञासु के मन से इस अवान्तर वाक्य के श्रवण से ब्रह्म नहीं है ऐसी असत् बुद्धि दूर हो जाती है।

हे लक्ष्मण ! अब तू महावाक्य का अर्थ एवं प्रयोजन समझ ।

जिन वाक्यों द्वारा जीव व ब्रह्म का एकत्व बोध जाग्रत होता है ऐसे वाक्य को महावाक्य कहते है । जैसे अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि आदि वाक्यों में जीव व ब्रह्म, ब्रह्म व जीव एक है ऐसा निश्चय कराया जा रहा है । **''जीवो ब्रह्मैव केवलम्, 'जीवो ब्रह्मैव ना पर :**

सद्गुरु के उपदेश द्वारा जब जिज्ञासु के मन से अवान्तर वाक्य द्वारा ब्रह्म के प्रति असत्वापादक आवरण दूर हो जाता है तब वह ब्रह्म की सत्ता का गुरु वेद, वचन द्वारा विश्वास अर्थात् परोक्ष ज्ञान तो प्राप्त करलेता है किन्तु उसको पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं होता है । वह सोचता है कि ब्रह्म यदि है तो वह क्यों नहीं दिखाई पड़ता है । वह कौन है, वह कहाँ है, वह कब मिलेगा, वह कैसे मिलेगा? इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता का अभान होने को ही अभानापादक आवरण कहते हैं । जो सद्गूरु द्वारा 'तत्त्वमसि' इस उपदेशात्मक महावाक्य श्रवण के द्वारा दूर हो जाता है कि वह परमात्मा अन्य नहीं, दूर नहीं बल्कि वह तू है तब उस जिज्ञासु को वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा उसे अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है ।

आदौ पदार्थ वगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थ विज्ञानविधौ विधानत:
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्म जीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ।२५।

हे आत्मन् ! प्रत्येक वाक्यार्थ जानने में पहले उसके पदों के अर्थ का ज्ञान ही कारण है । बिना पद्यार्थ किये वाक्यार्थ हृदयंगम नहीं हो पाता है । सद्‌गुरु द्वारा जीव को उसके स्वरूप बोध हेतु तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश दिया जाता है । **''तत्त्वमसि''**, महावाक्य तीन पदोंका समूह है । **तत+त्वम्+असि** । इसमें **'तत'** परमात्मा, **'त्वम्'** जीवात्मा का वाचक है और **'असि'** इन दोनों की एकता को बताता है । परमात्मा एवं जीवात्मा के वाच्चार्थ एवं लक्ष्यार्थ दो प्रकार होते हैं । **'तत्'** पद का वाच्चार्थ माया+चिदाभास+अधिष्ठान ईश्वर साक्षी परमात्मा है, जो ईश्वर नाम से प्रसिद्ध होता है । **'त्वम्'** पद का वाच्चार्थ अविद्या+चिदाभास+अधिष्ठान कूटस्थात्मा है, जो जीव नाम से प्रसिद्ध है ।

'तत्' पद ईश्वर का लक्ष्यार्थ परमात्मा है एवं **'त्वम्'** पद जीव का लक्ष्यार्थ आत्मा है । **'असि'** पद परमात्मा व आत्मा की एकता घटाकाश एवं मठाकाश उपाधि से रहित एक अंखड़, असंग आकाशवत् बताता है ।

प्रत्यक् परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहाय स'ृह्य तयोश्चिदात्मताम् ।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत । २६ ।

हे लक्ष्मण ! इन जीवात्मा और परमात्मा में जीवात्मा तो प्रत्यक् (अन्त:करण का साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष इन्द्रिय अगोचर है । भाग त्याग लक्षणावृत्ति से इस जीव तथा ईश्वर के चिदाभास अल्पज्ञ-सर्वज्ञ

बन्ध-मुक्त, कर्ता-भोक्ता तथा फलदाता आदि विरोधी अंश का त्याग कर लक्षित अविरोधी जीव साक्षी आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा को ग्रहण कर, उसे ही अपना स्वरूप जानो । इसप्रकार उस अज्ञान काल से पृथक् माने गये परमात्मा में **'सोऽहम्'** धारणा करो ।

हे प्रभो ! यह लक्षणा वृत्ति क्या है एवं इसका क्या तात्पर्य है ? कृपया आप मुझे समझाने की कृपा करें ।

हे आत्मन् ! जहाँ शब्द का अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध हो उसे शब्द की शक्ति वृत्ति या शक्य कहते हैं । जहाँ शब्द का अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध न हो उसकी परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले वाक्य द्वारा बोध होता है उसे लक्ष्यवृत्ति या लक्षणा वृत्ति कहते हैं ।

हे लक्ष्मण ! यह लक्षणा वृत्ति भी तीन प्रकार की होती है -

१. जहती २. अजहती तथा ३. भाग त्याग ।

१. जहाँ कहे हुए सम्पूर्ण वाच्चार्थ का त्याग करके उसके निकटतम सम्बन्धी-अर्थ को ग्रहण किया जाता है उसे जहती लक्षणा कहते हैं । जैसे 'गंगा में घर है' इस वाक्य के वाच्चार्थ से गंगा के प्रवाह पर घर होना सिद्ध होता है । परन्तु गंगा जल प्रवाह पर घर होना सर्वथा असम्भव है । इसलिये गंगा में घर है इस वाक्य का त्याग कर यहाँ **'गङ्गा-तीर'** अर्थ किया जाता है । अब तत्त्वमसि महावाक्य शोधन के लिये जहती लक्षणा का उपयोग कर दिया जावे तो 'तत' और 'त्वम्' पद के वाच्चार्थ ईश्वर और जीव का सर्वथा त्याग कर देने से उन दोनों की चेतना का भी त्याग हो जावेगा और उसके सम्बन्धी असत्, जड़, मायाको ग्रहण करना पड़ेगा । यहाँ दोनों की चेतना की एकता ही अभीष्ट है । इसलिए जहती लक्षणा द्वारा इन 'तत-त्वम्' दोनों पदों की एकता नहीं हो सकती । अब अजहती लक्षण वृत्ति का विचार करके देखते है ।

२.जहाँ कहे हुए सम्पूर्ण वाक्य का बिना त्याग किये उसके साथ उसके सम्बन्धी अर्थ को भी अनुमान कर के ग्रहण किया जाता है उसे अजहती लक्षणा कहते हैं । जैसे काली बहुत सीधी है । यहाँ काले रंग वाली गाय का सम्बन्ध जोड़ कर तात्पर्य ग्रहण करना होगा । पीली उड़ रही है । पीली रंग की पतंग उड़ रही है इस प्रकार अर्थ ग्रहण करना होगा । अब यहाँ प्रथम से ही तत्त्वमसि इस महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद के वाच्चार्थ में विरोध है, फिर अन्य अर्थ को और सम्मिलित करने से वह जीव ईश्वर की एकता तो सिद्ध होगी नहीं बल्कि और बाहर से असत, जड़ का ही और ग्रहण होगा । इसलिये महावाक्य शोधन में अजहती लक्षणा का भी उपयोग नहीं है । अब महावाक्य शोधनार्थ भाग त्याग लक्षणा का प्रयोग कर देखते हैं ।

३.जहाँ वाच्चार्थ का कुछ विरोधी अंश त्यागकर कुछ अविरोधी अंश को ग्रहण किया जाता है उसे भागत्याग या जहत जहती लक्षणा कहते हैं । जैसे यह वही वृद्ध गाँधी है जो युवा अवस्था में गांधी विदेश पढ़ने गये थे । इस वाक्य में यह पद से कहे जाने वाले वृद्ध गांधी की अपरोक्षता है और वह पद से युवा गांधी की परोक्षता का त्याग करके 'यह वह' भेद से रहित जो निर्विशेष व्यक्ति है उसकी एकता कही जाती है।

■■■

लक्षणा

शब्द का अर्थ, के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे वृत्ति कहते हैं वृत्ति भी दो प्रकार की है (१) शक्यवृत्ति (२) लक्ष्य-वृत्ति । शब्द का अर्थ के साथ उच्चारण मात्र से जो सीधा बोध होता है उसे शब्द की शक्य या शक्ति वृत्ति कहते हैं । जहाँ शब्द का अर्थ स्पष्ट बोधगम्य नहीं होता हो, किन्तु जहाँ परम्परा के सम्बन्ध द्वारा अर्थ स्पष्ट होता है उसे शब्द की लक्षणावृत्ति कहते हैं । यह लक्षणा भी तीन प्रकार की होती है । (१) जहती (२) अजहती, और(३) जहदा-जहती या भाग-त्याग लक्षणा ।

जहती लक्षणा-जहाँ कहे गये सम्पूर्ण वाच्यार्थ का परित्याग कर उसके परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले वाक्य का ग्रहण किया जाता है, उसे जहती लक्षणा कहते हैं जैसे राहगीर से किसी व्यक्ति ने पूछा कहाँ रहते हो ? उस राहगीर ने कहा मैं चिलिका झील में रहता हूँ, किन्तु झील में तो पानी भरा है उसमें तो व्यक्ति का रहना सम्भव नहीं हो सकता है । इसलिए उसके कहे वाक्य 'मैं चिलिका झील में रहता हूँ ' का परित्याग कर उसका यह अर्थ लगाना उचित होगा कि वह व्यक्ति चिलिका झील के आस-पास किनारे पर रहता है । इस प्रकार से जाने गये अर्थ की युक्ति को जहती लक्षणा कहते हैं ।

उपरोक्त जहती लक्षणा को महावाक्य शोधन में नहीं लगा सकते । यदि लगावेंगे तो जीव ब्रह्म एकत्व प्रबोधक ''अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' आदि सम्पूर्ण महावाक्य का भी परित्याग हो जावेगा एवं उससे बाहर असत, जड़, दुःख रूप जगत् का ही ग्रहण होगा । हमारा लक्ष्य तो

केवल महावाक्य द्वारा जीवब्रह्म के एकत्व निश्चय होने में बाधक भेदांश का परित्याग कर अभेद अर्थ को ग्रहण करना है, वह प्रयोजन इस लक्षणा के द्वारा कदापि नहीं हो सकेगा ।

अजहती लक्षणा–जहाँ कहे हुए सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग न कर उसके लक्ष्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उसके सम्बधित कुछ अन्य अंश का भी ग्रहण किया जाता है । जैसे लाल सबसे ऊँची जा रही है, किन्तु लाल रंग का आकाश में सबसे ऊँचा उड़ना तो सम्भव नहीं । अतः यहाँ तात्पर्यानुसार आकाश में उड़ने वाली केवल लाल रंग से सम्बन्धित तितली, चिड़िया या पतंग कौआ, चील आदि का अतिरिक्त रूप से ग्रहण करना होगा । इस प्रकार से लक्षार्थ ग्रहण कराने वाली युक्तिको अजहती लक्षणा कहते हैं ।

अजहती लक्षणा भी महावाक्य शोधन में प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि इस अजहती लक्षणा में पद के वाच्यार्थ को वैसा ही रख उससे सम्बन्धित असत, जड़, दुःख रूप संसार का ही ग्रहण होता है । किन्तु महावाक्य शोधन में 'तत 'और 'त्वं' के विरोधी वाच्यार्थ को छोड़ कर केवल अविरोधी लक्ष्यार्थ का ग्रहण ही कर्तव्य रूप है । वाच्यार्थ से पृथक् कुछ भी ग्रहण करने से जीव ब्रह्म एकत्व निश्चय नहीं हो सकेगा । अतएव महावाक्य में जहदाजहती लक्षणा (जिसे भागत्याग लक्षणा भी कहते हैं) का ही ग्रहण करना कर्तव्य है ।

भागत्याग लक्षणा– जहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ में से विरोधी अंश का परित्याग कर शेष रहे अविरोधी अंश का ग्रहण किया जाता है जैसे सोऽयं मीरा यह वही मीरा है इस उदाहरण को ध्यान पूर्वक श्रवण करें–

मेवाड़ के राजा भोज की पत्नी मीरा के यहाँ सन्तों को सदाव्रत में भोजन, कपड़ा, धन, सामग्री प्रचुर मात्रा में प्रतिदिन बांटी जाती थी । देश–देश के संत, फकीर, भिक्षुक, मुनि जीवन निर्वाह हेतु ग्रहण किया करते थे ।

मीरा को बचपन से ही प्रभु चरणों में अनन्य प्रेम भक्ति थी । विवाह के कुछ समय बाद में राजा भोज की मृत्यु हो गई थी । तभी से मीरा ने उसे ईश्वर कृपा का संकेत जान, राज्य वैभव का परित्याग कर, विरक्त हो जंगलों में, संतो के आश्रमों में इधर-उधर प्रभु दर्शनों की प्यास से रोती, गाती, नाचती, भटकने लगी-

पिया बिन सूनो छे जी म्हारो देश,
ऐसा है काई जो पियु से मिलावे, तन मन करूं सब पेश ।
तेरे खातिर वन वन डोलू, धरि जोगिन का वेश ।।
अवधि बीती अजहूँ न आये, पंढ़र हो गये केश ।
मीरा के प्रभु कबहु मिलोगे, तज दिया नगर नरेश ।।

मीरा बावरी-सी होकर संतों के आश्रमों में जाकर अपने कल्याणार्थ सत्संग सुननी रहती थी । उस सत्संग सभा के कुछ साधु पूर्व में उसके राज घराने से भोजन प्रसाद ग्रहण कर आये थे । आश्रम में जोगिन स्त्री की शकल देख उन्हें मेवाड़ की उस दानी भक्त रानी मीरा का स्मरण हो आया और वे संत आपस में चर्चा करने लगे कि यह महिला रानी मीरा जैसी लगती है । तब उस आश्रम के महन्त ने शिष्यों की बात सुन कहा सोऽयं मीरा यह तो वही मेवाड़ के राजा भोज की पत्नी मीरा ही है । संत समुदाय ने महन्त के वचन पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि आप इसे मेवाड़ की मीरा कैसे कह रहे हैं ? इसके पास रानी मीरा जैसे दास - दासियाँ, रथ, हाथी, घोड़ा वो राज पोशाक मुकुट, स्वर्ण हीरे कहाँ ? यह तो कोई जोगिन, भिक्षुक महिला है, रानी नहीं ? तब महन्त ने कहा तुम लोगों को इसकी वर्तमान देश, वेश, काल, वस्तु, अवस्था एवं उस देश, वेश, काल वस्तु, अवस्था को देख मीरा मानने में सन्देह हो रहा है , किन्तु मैं भाग-त्याग लक्षणा से सोऽयं यह मीरा ही है ऐसा कह रहा हूँ । अर्थात् वह और यह देश, वेश, काल, वस्तु, अवस्था का भेद छोड़ शरीर पर द्रष्टि डालते हुए यह वही मेवाड़ के राजा भोज की पत्नी मीरा है । इस प्रकार मानने में कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तत्, त्वं, असि, यह तीन पद हैं। अर्थात' वह तू है 'इस तत्त्वमसि महावाक्य में भागत्याग लक्षणा द्वारा तत् पद वाच्य ईश्वर की समर्थता, सर्वज्ञता, परोक्षता, लोककर्ता आदि वाच्यार्थ की त्वम् पदवाच्य जीवकी असमर्थता, अल्पज्ञता, अपरोक्षता कर्तृत्वता, परिच्छिन्नतादि वाच्यार्थ रूपी विरोधी उपाधियों को छोड़कर तत्पद के लक्ष्य कूटस्थ साक्षी, असंग, ब्रह्म का और त्वंपद के लक्ष्य जीव साक्षी कूटस्थ, असंग, सच्चिदानंद साक्षी की असि पद से जीव ब्रह्म की एकता में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है ।

इस प्रकार तत तथा त्वं पद वाच्यार्थ को त्याग कर लक्ष्यार्थ से ब्रह्म और आत्मा अभिन्न ही समझे । जैसे घटाकाश तथा मठाकाश में घट तथा मठ उपाधि भेद को छोड़ देने से दोनों के आकाश तत्त्व में एकता ही है, इसी प्रकार माया, अविद्या उपाधि को छोड़ देने से ब्रह्मात्मा अभिन्न ही है ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर' के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता, मुक्त ,फलदाता, व्यापक, सर्वशक्तिमान, एक आनन्द आदि माया उपाधि चिदाभास के धर्म है । तथा 'त्वम्' पदके वाच्य जीव के कर्ता, भोक्ता, परिच्छिन्न, अपरोक्ष, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, बद्ध, अनेक दुःख आदि अविद्या उपाधि कृत चिदाभास के धर्म है । इन 'तत' तथा 'त्वम्' के चिदाभास अंश के समस्त विरोधी धर्म का त्याग करके इन दोनों से रहित जो निर्विशेष चेतन आत्मा है उसकी एकता सद्गुरु अधिकारी शिष्य को ''तत्त्वमसि'' महावाक्य के द्वारा कराते हैं । साधन सम्पन्न जिज्ञासु वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् वह बह्म मैं हूँ 'सोऽहम्' अनुभव करलेता है । ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान कर जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

हे लक्ष्मण ! एक ही चेतन साभास बुद्धि से युक्त होकर जीव (कह लाता) है एवं वही चेतन साभास माया से युक्त होकर ईश्वर

कहलाता है । अविद्या माया इन दोने उपाधि से रहित एक अखंण्ड आकाशवत् सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वही मैं हूँ । जैसे घट उपाधि से आकाश को घटाकाश संज्ञा दी जाती है एवं मठ उपाधि से उसी एक अखण्ड, असंग आकाशको मठाकाश संज्ञा दी जाती है । किन्तु घट, मठ उपाधि से रहित अखंण्ड आकाश एक है ।

हे लक्ष्मण ! जैसे दर्पण उपाधि से सम्मुख वस्तु या व्यक्ति का उसमें प्रतिविम्ब पडता है, दर्पण के बिना प्रतिविम्ब नहीं होता है, उसी प्रकार अविद्या उपाधि से वह ब्रह्म, जीव रूप प्रतिविम्ब भाव को प्राप्त होता है एवं अविद्या उपाधि से रहित एक अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

हे लक्ष्मण ! जैसे घटाकाश की महाकाश से मुख्य एकता सर्वदा रहती है उसे मुख्य सामानाधिकरण कहते हैं । उसी प्रकार जीव का व्यापक ब्रह्म के साथ नित्य एकत्व है अर्थात् मुख्य सामानाधिकरण है ।

■ ■ ■

आत्मा और उसकी उपाधि

हे प्रभो ! यह उपाधि किसे कहते हैं एवं इसका क्या परिणाम है ?

रसादिपञ्चीकृत भूतसम्भवं
भोगालयं दुःख सुखादि कर्मणाम् ।
शरीरमाद्यन्तवदादि कर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ।।

हे आत्मन् ! जो वस्तु लक्ष्य वस्तु से पृथक् रहकर लक्ष्य वस्तु को सबसे भिन्न दर्शाती है उसे उपाधि कहते हैं । जैसे कौवा वाला मकान रमेश का है । यहाँ कौवा स्वयं मकान से भिन्न है एवं रमेश के मकान को अन्य मकान से पृथक् परिचय भी कराता है । इस कौवा उपाधि से जाने गये मकान को उपहित कहते हैं ।

जो वस्तु लक्ष्य वस्तु को सबसे पृथक् बतावे एवं स्वयं लक्ष्य वस्तु से कभी भिन्न न हो उसे विशेषण कहते हैं । जैसे 'पीली कोठी', 'काली गाय', 'लंगड़ा आदमी', 'अन्धा पुरुष' आदि । यहाँ पीली, काली, लंगड़ा, अन्धा आदि विशेषण है । जिससे लक्ष्य वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न जानी जाती है और स्वयं ये विशेषण उस विशिष्ट वस्तु से भिन्न भी नहीं हैं । विशेषण द्वारा जानी गई वस्तुको विशिष्ट कहते हैं ।

यहाँ आत्मा को दर्शाने के लिये नाम, रूप शरीर उपाधि है एवं सच्चिदानन्द विशेषण लक्षण वाला आत्मा है ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पंच महाभूतों से उत्पन्न इस स्थूल शरीर को भोगालय कहते हैं । अर्थात् पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ संचित् कर्मों के परिणाम स्वरूप परिपक्व संचित् कर्मों से यह सुख-दुःखादि

कर्म भोगों के आश्रय आदि - अन्तवान् मुक्ति के द्वार रूप इस शरीर को विज्ञजन आत्मा की स्थूल उपाधि मानते हैं ।

सूक्ष्मं मनो बुद्धि दशेन्द्रियैर्युतं
प्राणोरपञ्चीकृत भूत सम्भवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
ज्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ।२९।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार पंच ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, पंच कर्मेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा तथा पंच प्राण व्यान, उदान, समान, प्राण, अपान इस प्रकार १९ तत्त्व वाला अपंचीकृत सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर से पृथक मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ इस आत्म अज्ञान के कारण यह जीवात्मा इन चौरासी लाख प्रकार के स्थूल शरीरों में निवास करता हुआ फल भोग करता है । वह वर्तमान शरीर छोड़ अन्य संचित् कर्म भोगने एवं आगामी नूतन कर्म करने हेतु अन्य नूतन पंचीकृत मानव शरीर को धारण करता रहता है ।

आकर चार लक्ष चौरासी,
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी !

यह जीव कभी भूमि से, कभी स्वेद(पसीने) से, कभी अंडे से तो कभी गर्भ से उत्पन्न शरीर में रहता है । मुर्गी, मोर, मछली, सर्प, चिड़िया, तोते वत् शरीर अंडे से, तो कभी जूं की तरह पसीने से उत्पन्न शरीर धारण करता है । लता वृक्ष, पौधे, फूल, फल, पत्थर जड़ धातु, भूमि से उत्पन्न शरीर धारण करता है । हाथी, घोड़ा, बाघ, भाालू, उंट, हरिन, कुत्ता, बन्दर, घोड़ा, बकरी एवं मनुष्य गर्भ से उत्पन्न शरीर हैं। किन्तु इस अनादि चिदाभास रूप लिंग शरीर की स्थूल शरीर वत् बारम्बार मृत्यु नहीं होती यह तो आत्मज्ञान द्वारा एकबार ही सदा के लिये सद्गुरु कृपा से समाप्त होता है ।

आत्मज्ञानातिरिक्त मनुष्य जीवन में, यह जीव जो भी कर्म करता है उन सभी कर्मों के द्वारा इस जीव को शुभ-अशुभ योनि में जाकर सुख-दु:ख रूप में भोगना ही पड़ता है । बिना आत्म ज्ञान के यह जीव चाहे भक्ति के परिणाम स्वरूप अपने इष्ट राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर के लोकं चला जावे, चाहे पूजा, पाठ, यज्ञ, जप, तप, तीर्थादि कर्म कांड के फल स्वरूप स्वर्गादि लोक पहुँच जावे किन्तु जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त नहीं हो सकेगा । गर्भपात या हत्या, मांसाहार,व्यभिचार, धोखा मिलावटादि दु:ष्कर्म कर घोर कष्ट प्रद पशु, पक्षी, कीट, पतंग कर्मों द्वारा नरकादि लोक में इस जीवको जाना पड़ता है । किन्तु उन सभी लोकों से इस जीव को उसके कर्मानुसार सुख दु:ख रूप पुरस्कार एवं दंड भोग होनेपर परमात्मा दयाकर इसे यह दुर्लभ मानव शरीर प्रदान करते हैं । फिर वहाँ सद्गुरु एवं सत्संग प्राप्त कर सकता है । यह सूक्ष्म शरीर आत्मा का दूसरा देह कहलाता है जो स्वरूप ज्ञान के पूर्व तक अमर रहता हुआ नाना प्रकार के भोगों को भोगता हुआ अनादि काल से इस संसार में भ्रमित हो रहा है ।

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्
उपाधि भेदात्तु यत:पृथक्स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवघारयेत्क्रमात् ।३०।

हे लक्ष्मण ! इन स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का जो हेतु मूल शरीर है उसे अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण शरीर कहते हैं । यही जीवका तीसरा शरीर है । अपने आपको द्रष्टा, साक्षी, अखंड़, असंग, अद्वितीय, व्यापक, निष्क्रिय आत्मा न जान उसे कर्ता-भोक्ता, सुखी-दु:खी, पापी-पुण्यात्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, संन्यासी, गृहस्थी, वान प्रस्थी, बाल, युवा, बूढ़ा, गौर-श्याम, हिन्दु, मुसलमान,जैन, बौद्ध, सिख, इसाई, उड़ीया, बगांली, मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी, गरीब-अमीर, सधवा-विधवा-विधुरादि जानना ही अज्ञान कारण शरीर है । इसी स्व स्वरूप के अज्ञान हेतु जीव को चौरासी लाख यानियों में अनादि काल से भ्रमण करना पड़ रहा है ।

मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ, मैं अपने को नहीं जानता हूँ, मैं परमात्मा को नहीं जानता हूँ, मैं कुछ नहीं जानता हूँ, मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार का कथन अज्ञान कारण शरीर कहलाता है । यह अज्ञान मेरा दृश्य है एवं मैं इस से पृथक् इसका द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ ।

जब सद्गुरु की कृपा से इन तीनों देह से पृथक् जीव अपना नित्य, सच्चिदानन्द, द्रष्टा, साक्षी स्वरूप निश्चय कर लेता है तभी इसकी कैवल्य मुक्ति होती है । इस प्रकार के सद्गुरु उपदेश से जो ज्ञान निष्ठा प्राप्त होती है उसे ज्ञानीजन महा कारण शरीर कहते हैं । यह महा कारण शरीर अज्ञान कारण शरीर का नाशक है । अज्ञान को कारण शरीर इसलिए कहते हैं कि वही, जीवात्मा को अनात्म अध्यास करा कर चौरासी लाख प्रकार के शरीरों में भटका रहा है । सद्गुरु से प्राप्त आत्मज्ञान द्वारा जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब, जीव संसार बन्धन से मुक्त एवं परम ब्रह्म से अपने को अभिन्न अनुभव करता है । अतः हे प्रिय ! तुम अपने को स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महा कारण देह से भी भिन्न इन सभी उपाधि-रूप शरीरों का ज्ञाता, प्रकाशक, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध, सर्वाधिष्ठान्, निराकार, निर्विकल्प, असंग, अखंड, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आत्मा निश्चय करो ।

कृशोऽहं दुःख बद्धोऽहं हस्तपादामानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ।।

हे लक्ष्मण ! जब जीव चेतन के साथ एकत्व भाव न करता हुआ देह के साथ एकत्व भाव कर अपने को हाथ-पैर वाला, जन्म-मृत्यु धर्मा शरीर मान षड् विकारी शरीर का अभिमान करता है तभी यह जीव बन्ध एवं दुःख को पाता है ।

नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्वात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण जीव सर्वदा मुच्यते ।।

किन्तु जब यह जीव किसी सद्गुरु की कृपा से अपने को देह से पृथक्, द्रष्टा, साक्षी आत्मा स्वरूप से पहचान लेता है तब यह जीव अपने में दुःख एवं बन्धन को नहीं देखता है । यह आत्मनिष्ठा करने वाला जीव सर्वदा मुक्त है ।

■ ■ ■

उपाधि का बाध

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति–
र्विभाति स‘ात्स्फटिकोपलो यथा ।
अस‘रूपोऽयमजो यतोऽ द्वयो
विज्ञायते ऽस्मिन्परितो विचारिते ।। ३१ ।।

हे लक्ष्मण ! कोष आवरण को कहते हैं । यह अपना आत्मा स्फटिकमणि की तरह निर्मल, निर्विकार, असंग है । किन्तु स्फटिकमणि जिस प्रकार के रंग के ऊपर या सम्मुख होती है, वह उसी रंग की भासमान होती है या प्रकाश के ऊपर जिस प्रकार के रंग का कागज होता है वह निर्मल प्रकाश उसी प्रकार का लाल, पीला, नीला, श्वेत, हरा, बैगनी आदि भासने लगता है । अथवा पानी को जिस प्रकार के बर्तन में रखा जावे वह उसी प्रकार का लम्बा, गोल, चौकोण, षटकोण, पतला, मोटा भासता है इसी प्रकार यह आत्मा भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश से भिन्न होकर भी जिस–जिस कोश उपाधि में होता है, यह जीव वैसा–वैसा अज्ञानता से मानने लगता है ।

१. **अन्नमय कोश–** में स्थित जीवात्मा, मैं मनुष्य, स्त्री–पुरुष, गोरा, काला, दुबला–मोटा, लम्बा–नाटा, जाति, आश्रम, बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, जन्म–मृत्यु रूप पंचभूतों वाले जिस स्थूल शरीर को धारण करता है यह अन्नमय कोश कहलाता है ।

२.**प्राणमय कोश**–में स्थित यह जीव भूखा–प्यासा, भीतर–बाहर होने वाला चंचल–मंद गति रूप मानता कि मैं भूखा, मैं प्यासा, मैं जिन्दा

हूँ , मैं मर जाऊँगा । इसमें प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, यह पंच प्राण एवं वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा यह पंच कर्मेन्द्रियां होती है । यह प्राणमय कोश सूक्ष्म शरीर का है ।

३. **मनोमय कोश**–में पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन होता है और इसका अभिमानी जीव अपने को मैं पापी, मैं धर्मात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं चंचल, मैं शांत, मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं बद्ध ,मैं मुक्त रूप मानता है । यह कारण रूप है । यह सूक्ष्म शरीर का है ।

४. **विज्ञानमय कोश**–में पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि होती है । यहाँ जीवात्मा मैं चतुर, मैं मूर्ख, मैं ज्ञानी, मैं अज्ञानी अभीमान वाला होता है । यह कर्ता रूप सूक्ष्म शरीर है ।

५. **आनन्दमय कोश**–पूर्व कृत संचित शुभ कर्मों से अर्न्तमुख हुई वृत्ति में जो आनन्दाभास जीवको होता है । इसके अलावा वहाँ स्थूल, सूक्ष्म जगत्, विषयादि समस्त व्यवहार का अभाव सिद्ध होता है और किसी प्रकार का बाहर भीतर का ज्ञान नहीं रहता है । मैं सुख से सोया और कुछ भी पता नहीं चला, यह आनन्दमय कोश कारण शरीर का है ।

■■■

पंचकोश विवेक

यह अन्नमय कोश आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि यह पहले नहीं था मृत्योपरान्त नहीं रहेगा । यह पंचभूत २५ तत्त्वों का कार्य है, जो घट वत् मेरा दृश्य है । मैं तीनों कालों में समान विद्यमान हूँ । यह षट विकारी है, मैं निर्विकार हूँ । मेरा देह कहने वाला, मैं देह नहीं हो सकता।

यह प्राण, वायु का विकार मेरा दृश्य है । अभ्यास द्वारा चंचल या शांत होने वाला है । मैं इसका भी प्रकाशक हूँ । जैसे भूख के मारे मेरे प्राण निकल रहे हैं । अभी मेरे प्राण निकल जावे तो अच्छा हो । यह सिद्धान्त है कि जो **मेरा** सिद्ध होता है वह **मैं** कभी नहीं हो सकता । अत: प्राणमय कोश भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि मेरा कहलाता है ।

यह मन, देह में अहंता-ममता करने वाला, सुखी दु:खी होने वाला है और मैं जानता हूँ कि मेरा मन सुखी, मेरा मन दु:खी, मेरा मन चंचल, मेरा मन शांत है । अत: जो ''यह रूप'' भासित हो जावे एवं जिसे मेरा रूप जान लिया जावे वह मैं नहीं हो सकता । यह मन अति हर्ष,शोक में मुर्च्छित होने वाला है । मैं इस मन का भी द्रष्टा हूँ ।

जो चैतन्य के आभास युक्त है, यह विज्ञानमय कोश भी मैं नहीं है क्योंकि शयन के समय यह विज्ञानमय कोश मुझ आत्मा में लीन हो जाता है और वहाँ किसी प्रकार का विषय ज्ञान नहीं होता है । जाग्रतावस्था में यह शरीर के सर्वांश में विद्यमान रहता है । यह सूर्य वत् उदय अस्त रूप भासने वाला होने से परिच्छिन्न एवं विनाशी है । यह अन्त: होता है

इसकी अपेक्षा से मनोमय कोश बर्हिः होता है । क्योंकि यह बुद्धि द्वारा जाना जाता है ।

आनन्दमय कोष बादलों की तरह कभी-कभी होनेवाला होने से आत्मा नहीं है । और मैं इस आनन्द के भावाभाव का प्रकाशक विलक्षण आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ ।

मैं आत्मा ही सर्व का साक्षी, द्रष्टा, अनुभव स्वरूप हूँ । मैं किसी का विषय ज्ञेय, अनुभाव्य रूप दृश्य पदार्थ नहीं हूँ ।

हे आत्मन् ! अन्यमय कोश जन्म मृत्युवाला है । प्राणमय कोश भूख-प्यास वाला तथा कहने, लेने-देने, चलने-दौड़ने वाला , मूत्र, मैथुन एवं मल त्याग करने वाला है । सुनना और देखना धर्म तथा सुख-दुःख अन्तःकरण के धर्म है । इनमें से कोई धर्म तेरे नहीं हैं इसलिये तू अपने को इनसे अलग द्रष्टा समझ ।

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो में,
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासा कुतो में ।

नाहं चेतः शोक मोह कुतो में
नाहं कर्ता बन्ध मोक्ष कुतो में ।। – सरस्वती उप.

हे लक्ष्मण ! तुम अपने लिये ऐसा निश्चय करो कि मैं देह नहीं हूँ इसलिए जन्म-मृत्यु मेरे में नहीं है । मैं प्राण नहीं हूँ इस लिए भुख-प्यास मेरे धर्म नहीं है । मैं मन नहीं हूँ इसलिए सुख, दुःख, शोक, मोह मुझ में नहीं है । मैं कर्ता नहीं हूँ इसलिए बन्ध-मोक्ष धर्म मेरे नहीं है ।

घटावभासको भार्नुघट नाशे न नश्यति ।
देहाभासकः साक्षी देह नाशे न नश्यति ।।

आत्म प्रबोन्ध उप.

जैसे घट प्रकाश सूर्य घट नाश से नष्ट नहीं होता है इसी प्रकार देह का प्रकाश साक्षी आत्मा देह नाश से नष्ट होता है ।

अत्यन्त मलिनो देहो देही चात्यन्त निर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शोचं विधीय ते ।।

हे लक्ष्मण ! यह देह अत्यन्त मलिन होने से इसे किसी प्रकार शुद्ध नहीं किया जा सकता एवं यह अपना द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप अत्यन्त शुद्ध होने से कभी विकारी नहीं हो सकता । अतः दोनों दृष्टि से तुम शोक करने योग्य नहीं हो ।

ज्ञान शौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।
स मूढः क ाञ्चनं त्यक्त्वा लोष्ठं ग्रह्णति सुब्रत ।।

जाबाल दर्शन उप.

हे लक्ष्मण ! मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ , इसी उत्तम शुद्धि के साधन रूप चिन्तन का त्याग कर जो अन्य बाह्य शुद्धि के साधन रूप स्नान, तीर्थ, मन्दिर, जप, यज्ञादि साधन करता है वह स्वर्ण का त्याग कर लोह को ग्रहण करने जैसा मुर्खता पुर्ण कार्य है ।

उत्तमा तत्व चिन्तैव मध्य शास्त्र चिन्तनम् ।
अधमा मन्त्र चिन्ता च तीर्थ भ्राम्नत्यधमाधमा ।।

बृहद. उप

उत्तम आत्म चिन्तन, शास्त्र पठन अधम, मन्त्रं जाप तथा तीर्थाटन करना अधम से अधम साधक के लिये है ।

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते । योग तत्त्व उप.

अज्ञान से ही संसार प्रत्यक्ष एवं सत्य तथा परमात्मा अदृश्य रहता है । ज्ञान होने पर संसार अदृश्य एवं परमात्मा ही दृश्य रहता है ।

तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा ।
गन्ध पुष्पेषु भूतेषु तथात्मावस्थितो ह्यहम ।।

वासुदेव उप.

जैसे तिलों में तेल, काष्ठ में अग्नि, दुध में घृत, पुष्प में सुगन्ध का सदैव वास रहता है, इसी प्रकार सभी भूत प्राणीयों में चैतन्यात्म देव सर्वदा विद्यमान रहते हैं । लेकिन जैसे तिल से तैल, लकड़ी से अग्नि, दुध से घृत, पुष्प से इत्र युक्ति द्वारा पृथक् दिखाई पड़ता है; इसी प्रकार पंचकोशों को युक्ति द्वारा दृश्य कर द्रष्टा आत्मा का अहं रूप साक्षात्कार होता है ।

'यो वेद निहितं गुहायां परमे
व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । – तैत्ति : २/१/१

जो अन्नमयादि पंचकोशों में छुपे हुए ब्रह्म को, वह ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार से जो पहचानता है, वह जीव सब कामनाओं को, सब लोकों को प्राप्त कर लेता है और वह जीव जन्म-मृत्यु चक्र से मुक्त हो जाता है ।

'सयो ह वै सत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति' – मु. उप.३-२-१

जिस महापुरुष को ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव होता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ।

य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' – तै.उ.२.१

ब्रह्मको मैं रूप से जाननेवाला ब्रह्म रूप ही हो जाता है । फिर वह 'न च पुनरावर्तते' पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है उसका जन्म-मरण चक्र समाप्त हो जाता है ।

हे प्रिय लक्ष्मण ! जैसे एक ही पुरुष उपाधि भेद से पुत्र, पत्नी, साला, बहन, पिता, पति, जीजा, भाई, आदि नाना रूप से पहचाना जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अविद्या तथा माया उपाधि के कारण जीव तथा ईश्वर रूप भासने लगता है । और जब मनुष्य के समस्त सम्बन्धी रूप उपाधियों का अभाव हो जाता है, तब वह न पिता है न भ्राता, न पति है, न जीजा । केवल एक पुरुष ही निरूपाधिक रह जाता है । उसी

प्रकार माया एवं अविद्या उपाधि के अभाव रूप हो जाने से फिर ब्रह्म केबल ब्रह्म ही रह जाता है तब वह न जीव है न ईश्वर । इस प्रकार हे लक्ष्मण ! सद्गुरु की कृपा से साधन चतुष्टय सम्पर्ण व्यक्ति अपने को पंच कोशातीत, अद्वितीय, असंग, ब्रह्मरूप निश्चित करे ।

बुद्धेस्त्रिधावृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादि भेदेन गुणत्रयात्मन:
अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ।।३२।।

हे आत्मन् ! त्रिगुणात्मिका बुद्धि ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भेद से तीन प्रकार की वृत्तियाँ वाली है । इन तीनों वृत्तियों का आपस में व्यतिरेक होने से मिथ्या है किन्तु मैं आत्मा अन्वय, अखंड एकरस होने से सत्य हूँ ।

तीन अवस्था का प्रकाशक

हे आत्मन् ! जिसकाल में पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चौदह इन्द्रियों का स्थूल व्यवहार भोग होता है उसे बुद्धि की **जाग्रतावस्था** कहते हैं ।

जिस काल में जाग्रत के देखे, सुने, भोगे किये हुए संस्कारों का सुख-दु:ख रूप में बिना इन्द्रिय, बिना विषय के सूक्ष्म भोग होता है उसे **स्वप्नावस्था** कहते हैं ।

जिस काल में सोया हुआ पुरुष दर्शनवृत्ति एवं विषयवृत्ति से रहित अर्थात् कोई भी भोग कामना न करते हुए तथा कोई भी स्वप्न न देखते हुए केवल आनन्द एवं अज्ञान का बिना मन, इन्द्रिय एवं बिना विषय के अनुभव करता है उसे **सुषुप्ति अवस्था** कहते हैं ।

इन तीनों अवस्था का परस्पर भेद है । जब जाग्रत अवस्था होती है तब स्वप्न एवं सुषुप्ति नहीं रहती है । जब स्वप्न अवस्था होती है तब

जाग्रत एवं सुषुप्ति नहीं रहती है । जब सुषुप्ति होती है तब जाग्रत एवं स्वप्न नहीं होता है एवं जब समाधि होती है तब जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति यह तीनों अवस्था नहीं रहती है तथा मुर्च्छावस्था में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि भी नहीं होती है । इन सबका परस्पर व्यभिचार(व्यक्तिरेक) है, किन्तु मुझ सामान्य आत्मा का सभी अवस्था में अन्वय है । इसलिये ये तीनों अवस्था भावाभाव रूप है जब कि मैं नित्य सत्य, चित, आनन्द स्वरूप एक रस आत्मा हूँ ।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'

मैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था में हूँ इसलिये मैं सत, तीनों को जानता हूँ इसलिये मैं चैतन्य(चित) तथा तीनों में परम प्रिय हूँ इसलिये मैं सदानन्द हूँ ।

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धै:प्रमुच्यते ।।

कैवल्योपनिषद १/१७

हे प्रिय ! जो विचारशील पुरुष अन्वय-व्यतिरेक युक्ति द्वारा इन बुद्धि की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्च्छा, ध्यान तथा समाधि अवस्था को पर प्रकाश्य, परिच्छिन्न, जड़, विकारी जानलेता है एवं अपने को स्वयं प्रकाश, साक्षी, चैतन्य, द्रष्टा, आत्मब्रह्म हूँ, इस प्रकार जो दृढ़ निश्चय से संशय रहित हो जान लेता है, वह सभी बन्धनों से छूटकर कैवल्य को प्राप्त होता है ।

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षण:साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव: ।।

कैवल्योपनिषद १/१८

हे लक्ष्मण ! तीनों शरीर में एवं तीनों बुद्धि की अवस्था से जो कुछ भोग, भोग की क्रिया एवं भोक्ता है मैं उनसे विलक्षण साक्षी तटस्थ

चिन्मात्र शुद्ध चेतन नित्य कल्याण स्वरूप आत्मा हूँ ऐसा तू अपने को जान ।

अहं भोजनं नैव भौज्यं न भोक्ता।
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

त्रिपुटी का जो साक्षी है वह ब्रह्मात्मा मैं ही हूँ । भोक्ता अनुभव करनेवाला अन्तःकरण विशिष्ट चेतन याने चिदाभास जीव, भोग्य वह वस्तु जिसे अभिमानी जीव भोगता है एवं भोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भोक्ता भोग्य पदार्थ को ग्रहण करता है । इन तीनों के अतिरिक्त संसार कुछ नहीं है । जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति ही त्रिधाम, त्रिलोक, त्रिकाल, या त्रिअवस्था है । दृढ़ता पूर्वक विचार करना चाहिये कि मैं इन तीनों अवस्था से भिन्न साक्षी, नित्य कल्याण स्वरूप आत्मा हूँ ।

देहेन्द्रिय प्राणामनश्चिदात्मनां
स‘ादजस्त्रं परिवर्तते धियः ।
वृत्तिस्तमोमूलतयाऽज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवेद्भवः ।।३३।।

बुद्धि की वृत्ति, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, और चेतन आत्मा के संधान रूप से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है । यह वृत्ति तमोगुण से उत्पन्न होनेवाली होने के कारण अज्ञान रूपा है और जब तक यह रहती है तब तक ही संसार में जन्म होता रहता है ।

अर्थात् अनादिकाल से यह जीव निज ब्रह्मात्म, साक्षी स्वरूप को न जानकर अज्ञानता वश देह, इन्द्रिय, प्राण और मनादि के धर्म; जो प्रकृति के धर्म है- स्त्री-पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, गोरा, काला, दुर्बल, मोटा, आदि विकारी देह रूप अपने को जन्मने मरने वाला मानता है ।

कभी यह जीव देहाभिमान से हट प्राणों का अभिमानी बन मैं भूखा-प्यासा, जीवित रूप मान लेता है ।

कभी यह जीव प्राणाभिमान छोड़ इन्द्रियों का अभिमानो बन मैं देखता, सुनता, सुंघता, छूता, चखता हूँ ऐसा अभिमान करने लगता है ।

कभी इन्द्रियों का अभिमान छोड़ अन्त:करण अभिमानी हो मैं सुखी-दु:खी, चंचल-शांत, पापी, धर्मात्मा, बद्ध, मुक्त, ज्ञानी, अज्ञानी, कर्ता, भोक्ता इस प्रकार का अभिमान करलेता है । सुषुप्ति में यह जीव जाग्रत व स्वप्न जगत् का अभिमान त्याग कर आत्मा में लीन हो जाता है जहाँ केवल आनन्द का अनुभव करता है और कुछ भी नहीं भासता । फिर प्रारब्ध भोगने हेतु माया द्वारा जगा दिया जाता है । इस प्रकार यह जीव जबतक अपने यथार्थ साक्षी आत्म स्वरूप को नहीं पहचानेगा तबतक मिथ्या देहादि संघात् में अभिमान के कारण यह बारम्बार जन्म-मृत्यु अवस्था को प्राप्त होता रहेगा ।

नेति प्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादित चिद्घनामृत: ।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पत्वा यथाम्भ:प्रजहाति तत्फलम् ।।३४।।

'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाण से सम्पूर्ण संसार का बाध करके और हृदय में चिद्घनामृत का आस्वादन करके उसके सार रूपा सत (ब्रह्म) को ग्रहण करे । जैसे नारियल के जल को पीकर मनुष्य उसे अपने लिये निष्प्रयोजनीय जान उसके आयतन को फेंक देते हैं ।

गो-गोचर जहँ लगि मनजाई, सो सब माया जानेहु भाई ।

जहाँ तक नेत्र, श्रोत्र, मनादि इन्द्रियों की गति है वहाँ तक माया मात्र ही जानो । ब्रह्म तत्त्व मन,-वाणी, बुद्धि से सर्वथा पृथक् है ।

राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी, मत हमार अस सुनहु भवानी ।
'नदृष्टे र्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुते: श्रोतारं श्रुणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न

विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा 'सर्वन्तरोऽतोऽन्यदार्तम्' स विज्ञेय तद्विव्दजिज्ञासस्व – बृहदारण्यक उप. ३/४/२

हे लक्ष्मण ! तुम परमात्मा को सद्गुरु की कृपा से बुद्धि द्वारा आत्मा रूप तो जान सकते हो, किन्तु उस साक्षात् अपरोक्ष आत्मा को जो दृष्टि का द्रष्टा है, उसे दृश्यवत् 'यह' रूप से नहीं देख सकते हो । तुम श्रुति के श्रोता को शब्द की तरह नहीं सुन सकते । तुम मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते । तुम सर्व ध्याता का ध्यान नहीं कर सकते । तुम सर्व विज्ञाता को नहीं जान सकते । क्योंकि यह तुम्हारा साक्षात् अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है 'अयमात्मा ब्रह्म' इससे पृथक् जो भी 'इदम्' रूप, दृश्य रूप यह रूप, नाम रूप जगत् है सब अध्यस्त मिथ्या-मात्र, नाश रूप है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

– केनोपनिषद १/४

हे लक्ष्मण ! वाणी के द्वारा जो भी नाम, जप, कीर्तन, भजन, श्लोक, मंत्रादिका उच्चारण होता है वह ब्रह्म नहीं है; बल्कि उसके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति का अंश पाकर वाणी बोलने में समर्थ होती है, जो वाणी का भी ज्ञाता प्रेरक एवं प्रवर्तक है वही ब्रह्म है । और वाणी जिसका वर्णन करती है वह कदापि ब्रह्म नहीं है, वाणी उसका वर्णन करने में या गुणगान करने में सर्वथा असमर्थ है । क्योंकि देखे हुए पदार्थों का ही यथार्थ गुणगान हो सकता है । बिना देखी वस्तु का गुण गान मात्र श्रद्धा या कल्पना ही होगी । वेद भी उनका गुण गान करते-करते थक कर 'नेति-नेति' कह चुप हो जाते हैं । वह ब्रह्म वाणी से सर्वथा भिन्न है, उसके बारे में जितना एवं जैसा भी कहा जावे वह उसका प्रकाशक होने से भिन्न ही होगा ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

केनोपनिषद १/५

हे आत्मन् लक्ष्मण ! जिसका मन मनन नहीं कर पाता है जिसके बारे में मन सोच भी नहीं सकता वह ब्रह्म है अर्थात् मन के द्वारा जो जाना जाता है वह ब्रह्म नहीं है । बल्कि जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह मन मनन करने में समर्थ होता है वही ब्रह्म है । उस ब्रह्म के बारे में मन अन्य दृश्य वस्तुओं की तरह संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता । तब जिसे कभी देखा ही नहीं उसका ध्यान तो कदापि कर ही नहीं सकेगा । प्राय: ध्यान देखी वस्तुका ही होता है बिना देखी वस्तु का ध्यान नहीं हो सकेगा बल्कि कल्पना मात्र ही हो सकती है ।

जाकी रही कल्पना जैसी, प्रभू मूरत देखी तिन तैसी ।

जो परमात्मा मन, बुद्धि का प्रेरक प्रवर्तक ज्ञाता है वह मन, बुद्धि का ज्ञेय नहीं हो सकता है ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

केनोपनिषद १/६

जिसको चक्षु के द्वारा नहीं देख सकते बल्कि जिसकी शक्ति और प्रेरणा से चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होती है वह ब्रह्म है । उस ब्रह्म को 'यह' रूप कभी नहीं देखा जा सकता ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।। केनोपनिषद २/३

जिसने परमात्मा का आत्मा रूप में साक्षात्कार कर लिया है उन्हें जानने का कभी अभिमान नहीं होता है कि मैंने परमात्मा को 'इदं' रूप

‘यह’ रूप जाना है ! क्योंकि वह परमात्मा कभी किसी के द्वारा ‘यह’ रूप घट दृश्य वत् नहीं जाना गया है । यदि परमात्मानुभवी से कोई पूछे कि क्या तुमने परमात्मा को देखा है तो वे उसे यही यथार्थ वचन कहते हैं कि जैसा आप परमात्मा को दृश्य रूप मानते हैं मैंने उन्हें नहीं जाना ।

जब याज्ञवल्क्य ऋषि को राजा जनक की गौशाला से १००० गायों को ले जाते देखा जो केवल ब्रह्मवित् के लिये विशेष पुरस्कार रूप रखी हुई थी । तब वहाँ के दस हजार विद्वान् पंडितों ने कहा ओ याज्ञवल्क्य ! तुम गाये ले जाने का साहस कर रहे हो तो बताओ वह ब्रह्म कैसा है ? जैसे जगत् में यह घोड़ा है, यह गाय है, बताया जाता है उसी तरह हमें उस ब्रह्म का ज्ञान कराओ । तब याज्ञवल्क्य ने कहा मैं तो गायों की इच्छा वाला हूँ इसलिये ले जा रहा हूँ । मैं ब्रह्म को नहीं जानता । जो गाय एवं घोड़े की तरह ब्रह्म को यह रूप जानता हो उस ब्रह्मवेत्ता को मेरा नमस्कार है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभव रूप, ज्ञान रूप स्व है उसे जान लिया कहना भी अज्ञान ही होगा । जो कहते हैं कि मैंने ब्रह्म को नहीं जाना है, वह ब्रह्म बुद्धि द्वारा जानने में नहीं आसकता जो ब्रह्म सबकी बुद्धि का विज्ञाता है उसको कैसे बुद्धि द्वारा जाना जावेगा ? ऐसा जिन्होंने ब्रह्म को आत्मरूप जाना है । बस वे ही ब्रह्म को जान पाये हैं ।

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ ।
सवेत्तिवेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता ।।

बृहद् उप: २/४/१४

यदि कोई मिथ्या अभिमानी अपने ब्रह्मदर्शी होने का प्रचार करता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया तो समझना चाहिये उसने ब्रह्म को बिल्कुल

नहीं जाना है । ब्रह्म तो वह तत्त्व है जो सब को जानता है किन्तु उसे कोई नहीं जानता है ।

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयत् ।
न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येत अदृष्टो द्रष्टा ।।

अर्थात् जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उसे सर्व द्रष्टा को किसके द्वारा जान सकेगें ? कदापि नहीं । क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई जानने वाला द्रष्टा नहीं है । तुम दृष्टि के द्रष्टा को दृश्य की तरह यह रूप में कभी नहीं देख सकोगे ।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरूत श्रोत्रस्य श्रोत्रं ।
मनसो ये मनो विन्दुः यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसासह ।।

जो परमात्मा को प्राणों का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र तथा मन का भी मन जानते हैं, वही उस पुरातन पुरुषोत्तम ब्रह्म को आत्मा रूप जानते हैं । किन्तु जो इस साक्षात् अपरोक्ष आत्मब्रह्म को श्रोत्र, चक्षु वाणी तथा मनादि इन्द्रियोंके द्वारा विषय रूप जानते हैं वे अज्ञानी भ्रमित हो रहे एवं दूसरों को भी भ्रमित कर रहे हैं । वह परमात्मा इन्द्रिय अगोचर अप्रमेय है । इसीलिये वेद उसे 'नेति-नेति' कहकर मौन हो जाता है । अर्थात् जो नेति-नेति अवधि का प्रकाशक है, वही ब्रह्म है और हे प्रिय लक्ष्मण ! 'तूही वह ब्रह्म है 'तत्त्वमसि' ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
मन वाणी परमात्मा को प्रात्प करने हेतु बहुत प्रयास
करते हैं किन्तु उसे बिनाप्राप्त किये निराश ही लौट आते हैं ।
जो मन बुद्धिके पीछे है वह मन बुद्धिके सम्मुख नहीं हो सकता ।

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धषेऽनवः

निरस्त सर्वतिशय: सुखात्मक:
स्वयम्पम: सर्वगतोऽयम द्वय: ।३५।

यह आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है क्योंकि अजन्मा है इसीलिये अविनाशी है । जिसका जन्म है उसकी तो मृत्यु भी अवश्य है ।आत्मा अखंड, एक रस है । न कभी क्षीण होता है , न बढ़ता ही है । परिच्छिन्न वस्तु ही घटती बढ़ती है , जैसे नदी, वृक्ष, चन्द्रमा, शरीरादि । किन्तु आत्मा आकाशवत् व्यापक एवं पूर्ण है । जब जीव ही नहीं मरता है तब आत्मा कैसे मर सकेगा ? प्रतिविम्ब रूप जीव ही अनादि है तब विम्ब रूप आत्मा तो अवश्य ही नित्य सनातन होगा ।यदि जीवात्मा को भी मरा माना जाता तो श्राद्ध प्रथा को स्थान नहीं मिलता । स्वर्ग-नरक का नामो निशान शास्त्रों में न होता । यह सृष्टि प्रवाह रूप में नित्य है । पचंभूतों से बनी वस्तु ही अग्नि, जल, शस्त्र, पवन से नष्ट होती है किन्तु आत्मातो

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक: ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत: ।।

- गीता : २/२३

सर्व द्रष्टा, सर्व अधिष्ठान सबके कारण स्वरूप इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे भिगा नहीं सकता तथा पवन इसे सुखा नहीं सकती क्योंकि यह आत्मा अपंचभौतिक है।

न जायते म्रियते वा कदाचि न्नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

- गीता : २/२०

यह आत्मा निर्विकार है अर्थात् जन्मना, रहना, बढ़ना, युवा, वृद्ध तथा मृत्यु इन षड् विकारों से रहित है । देह षड़ विकारी है । देह के मरने पर भी यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।

गीता २/१९

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसे मरा मानता है वह दोनों ही आत्मा को नहीं जानते है । क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

– गीता :२/२२

हे आत्मन् ! जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को त्याग दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही यह जीवात्मा प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर वर्तमान शरीर को त्याग कर्मानुसार दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं ने मे जनाधिपा: ।
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ।।

– गीता :२/१२

हे प्रिय ! न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राज्य, राजा, प्रजा, रूप संसार नहीं थे और न ऐसा ही हैं कि हम सब आगे न रहेंगे । क्योंकि यह संसार प्रवाह रूप अनादि है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: । – गीता :२/१६

देह तो मिथ्या है जल से भासने वाले बर्फ या लहर की तरह किन्तु इस जलवत् आत्मा का कभी नाश या अभाव नहीं होता ।

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म आनन्दं ब्रह्म

– तैति उप.

यह आत्म ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है एवं अद्वितीय है ।

‘नेह नानास्ति किंचन्’ , ‘एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म’

‘मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

– गीता : ७/७

यहाँ एक ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ भी सत्तावान् पदार्थ नहीं है। जैसे सूत्र माला में सूत्र के ही मनियों की तरह यह अलंकार रूप जगत् स्वर्ण रूप ब्रह्म में भास रहा है । यह जगत् उसी प्रकार असत्य है, जैसे रस्सी में तीनों कालों में भी सर्प नहीं होता है फिर भी अन्धकार दोष के कारण भासता है । प्रकाश होने पर पुन:वही रस्सी भासने लगती है । किन्तु अन्धकार के समय जब सर्प भास रहा था तब भी रस्सी के आदि, मध्य तथा अन्त में सर्प नहीं था । इसी प्रकार इस परमात्मा के आदि, मध्य तथा अन्त में जगत् नहीं है केवल अज्ञान के कारण ही जगत भास रहा है ।

‘अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च’ – गीता :१०/२०

सम्पूर्ण भूतों की प्रतीतिका आदि, मध्य तथा अन्त भी मैं ही हूँ ।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्
वासुदेवः सर्वमिति’

– छन्दोग्य.६/८/७

जैसे घट, दीपक, सुराही, इँट, खप्पर, शरावा, मटकी आदि विभिन्न नाम वाणी का विकार मात्र है । इन सब में अनुगत कारण स्वरूप एक मात्र मिट्टी ही सत्य वस्तु है । इसी प्रकार ब्रह्म ही इस नाम रूप जगत् का आदि मध्य एवं अन्त है । यहाँ ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं है ।

‘आदा वन्ते चयत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा’ जो आदि एवं अन्त में नहीं रहते यह नाम, रूप पदार्थ वे मध्य में भासने पर भी नहीं होते हैं वैसे ही ब्रह्म में जगत् मिथ्या भास रहा है ।

यह ब्रह्म स्वयं प्रकाश है इसे सिद्ध करने के लिये ध्यान, समाधि मंत्र, माला,पूजा, पाठ, माला की जरूरत नहीं है । साधन से परमात्मा को प्राप्त करना ऐसा ही है जैसे दीपक रोशनी द्वारा सूर्य को देखने का प्रयास करना।

हे लक्ष्मण ! अन्यथा ग्रहण दो प्रकार का होता है- एक समसत्ता वाला जैसे दूध का अन्यथा यही रूप में ग्रहण होता है । यहाँ दूध, दही की समसत्ता है । समसत्ता वाले पदार्थों में उपादान कारण को विकारी होना पड़ता है ।

दूसरा विषम सत्ता वाला अन्यथा ग्रहण होता है जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति । इसमें रज्जु और सर्प की विषम सत्ता है । रज्जु व्यावहारिक एवं सर्प प्रातिभासिक है । इस प्रकार के विषमसत्ता वाले पदार्थ के द्वारा उपादान कारण विकृत नहीं होता, वह एकरस परिणाम हीन निर्विकार ही रहता है ।

इसी प्रकार सर्वाधिष्ठान परमानन्दघन, चेतन ब्रह्म का द्रष्टा-दर्शन-दृश्य रूप प्रपंच विषम सत्ता वाला रज्जु सर्प की तरह अन्यथा ग्रहण है । जैसे रस्सी में सर्प तीन काल में उत्पन्न नहीं हुआ । उसी प्रकार परमात्मा में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भासने पर भी ब्रह्मसे भिन्न प्रपंच तीन काल में उत्पन्न नहीं हुआ है । ऐसा जानना ही ज्ञान है और ब्रह्म के अतिरिक्त 'अहं, इदं' को सत्य जानना अज्ञान है । इसी से वेदान्त सिद्धान्त में 'अज्ञात वाद' मान्य है **'नेह नानास्तिकिचंन'** । व्यवहारिक दृष्टि से विर्वत वाद मान्य है ।

हे लक्ष्मण ! जैसे आकाश में नीलिमा व समुद्र में श्यामलता कुछ नहीं है केवल भासती है । उसी प्रकार ब्रह्म में परिच्छन्न अहं, त्वं आभास मात्र है । जब अहं भाव अखण्ड आत्म स्वरूप के ज्ञान से नष्ट हो जाता है

तब संसार भी अभाव रूप उसी प्रकार हो जाता है, जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न कुछ नहीं रहता ।

'सयोह वै तत्परमं ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (मु.उप)

अर्थात् जो ब्रह्म को जान लेता है वही निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है।

है लक्ष्मण ! जैसे घट उत्पन्न होने के पहले घटाकाश आकाश मात्र था तथा घट नष्ट होने पर भी आकाश मात्र रह जाता है उसी प्रकार तीनो देहों के पूर्व जीवात्मा ब्रह्म मात्र था तथा तीनों देहों का नाश होने पर तथा ब्रह्ममात्र रह जाता है । केवल तीनों देहों के प्रतीतिकाल में ब्रह्म ही जीव कहलाता है । यह जीव की प्रतीति रस्सी में सर्प की तरह अध्यस्त मात्र है । ब्रह्म अधिष्ठान आधार ही सत्य है ।

हे प्रभो ! यह अधिष्ठान एवं आधार किसे कहते है ? कृपा करके मुझे समझा दीजिये ।

हे लक्ष्मण ! अधिष्ठान उसे कहते है जिसके अज्ञान से अध्यस्त भ्रम की प्रतीति होती है एवं अधिष्ठान के ज्ञान द्वारा उस भ्रम से उत्पन्न अध्यस्त का अत्यन्ताभाव निश्चय हो जाता है ।

आधार उसे कहते है जिसके सामान्य ज्ञान से अध्यस्त की प्रतीति हो एवं जिसके विशेष ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति हो जाती है । जैसे रस्सी के सामान्य 'इदं' अंश से यह सर्प है ऐसी प्रतीति होती है एवं रस्सी विशेष अंश के ज्ञान से कल्पित विशेष सर्प की प्रतीति नहीं होती है । इसीमें रस्सी का यह अंश तो आधार है एवं रस्सी का अज्ञान सर्प प्रतीति में अधिष्ठान कहलाता है । अर्थात् रज्जु के सामान्य इदं अंश को आधार एवं रज्जु को सर्प को अधिष्ठान जानना चाहिये ।

■■■

अध्यास निरूपण

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दु:खमय: प्रतीयते ।
अज्ञानतोऽध्यास वशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधत: क्षणात् ।।३६।।

हे प्रभो ! जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुख स्वरूप निजात्म रूप है उसमें यह दु:खमय संसार कैसे प्रतीत होता है ?

हे प्रिय लक्ष्मण ! अधिष्ठान आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही यह जगत् प्रतीति का अध्यास होता है । ज्ञान काल में यह उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे प्रकाश होते ही रस्सी के स्थान पर भासने वाला सर्प लय हो जाता है । क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर वैसा ही विरोध है जैसे प्रकाश एवं अन्धकारका ; जहाँ प्रकाश है वहाँ अंधकार नहीं होता, इसी प्रकार जहाँ ज्ञान होता है वहाँ अज्ञान नहीं रह सकता ।

अन्य में अन्य की प्रतीति को ही अध्यास कहते हैं । यह अध्यास दो प्रकार का है । १. अर्थाध्यास २. ज्ञानाध्यास । वस्तु दर्शन में कुछ का कुछ दिखाई पड़ना अर्थ अध्यास है । वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होकर अन्यथा भ्रम ज्ञान होना ज्ञान अध्यास कहलाता है ।

हे आत्मन् ! आत्माके सत, चित् इन दो धर्मों द्वारा अनात्माके असत्–जड़ धर्म ढके होने से देह असत् एवं अन्त:करण जड़ नहीं भासता बल्कि देह सत्य एवं अन्त:करण चेतन प्रतीत होते हैं ।

इधर अनात्मा के दु:ख व द्वैत धर्म आत्मा के आनन्द एवं अद्वैत पर ढके होने के कारण मैं आनन्द स्वरूप एवं ब्रह्म रूप हूँ ऐसा बोध न होकर मैं

दु:खी हूँ एवं परमात्मा मुझसे भिन्न है ऐसा भ्रम ज्ञान हो रहा है । इस अध्यास का कारण अज्ञान ही है । जीव अनादि काल से देहादि के साथ आत्मा का तादात्म्य अध्यास कर रहा है, उस अध्यास से ही पुरुष देह को आत्मा मानता है । इसी से यह जीव जन्म-मरण रूप संसार चक्र में पुन: पुन: भ्रमण करता रहता है । इस अज्ञान की निवृत्ती बिना आत्मा के यथार्थ ज्ञान किये कभी नहीं हो सकती है । अज्ञान की निवृत्ति से ही अध्यास की निवृति होती है । अज्ञान कारण की आत्मज्ञान द्वारा निवृत्ति होने से अज्ञान के कार्य रूप देहाध्यास की भी निवृत्ति तत्काल हो जाती है। क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है ।

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चित: ।
असर्प भूतेऽहि विभावनं यथा
रज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ।।३७।।

भ्रम से जो अन्य में अन्य की प्रतीति होती है उसी को विद्वानों ने अध्यास कहा है । जिस प्रकार रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, सीप में रजत की प्रतीति होती है, मरूस्थल में जल की प्रतीति होती है, चन्द्रमा में हरिण रूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार परमात्मा में जगत की प्रतीति या अजन्मा अविनाशी आत्मा में जन्म-मृत्यु की प्रतीति होना ही अध्यास कहलाता है ।

विकल्प मायारहिते चिदात्म के
अहङ्कार एष प्रथम: प्रकल्पित: ।
अध्यास एवात्मनि सर्व कारणे
निरामये ब्रह्मणी केवले परे ।। ।।३८।।

जो विकल्प और माया से रहित है उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित स्वरूप परमात्मा में, पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यास की ही कल्पना होती है । अर्थात् अहंकार को ही संसार का कारण जानना

चाहिये । यदि अहंकार नहीं तो द्वैत रूप संसार भी भासमान नहीं होगा । ब्रह्म में अहंकार भी उसी प्रकार है जैसे जल पर भासने वाली तरंगें । तरंगों की पृथक् सत्ता न होने पर भी वह जल को उत्थान पतन रूप दिखाती रहती है । उसी प्रकार अहंकार की सत्ता न होने पर भी वह ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय लीला दिखाता रहता है ।

इच्छादि रागादि सुखादि धर्मिका:
सदाधिय: संसृति हेतव: परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावत: पर:
सुख स्वरूपेण विभाव्यते हि न: ।।३१।।

सबके साक्षी आत्मा में मनके धर्म इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दु:खादि रूप वृत्तियाँ मानलेना ही जन्म-मरण रूप संसार का कारण हैं । क्योंकि सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाने पर हमें आत्मा का सुख रूप से भान होता है ।

हे आत्मन् ! आत्मा असंग, निर्विकार, निष्क्रिय है किन्तु अन्त:करण के स्वरूप अध्यास के कारण आत्मा में सुख-दु:ख, राग-द्वेष, कर्ता-भोक्ता, पाप-पुण्य, ज्ञान-अज्ञान, आदि धर्म की मिथ्या प्रतीति होती है । जैसे नित्य प्रकाश रूप सूर्य में प्रकाश रहित चन्द्रमा के आवरण के कारण पृथ्वी वासियों को सूर्य पराग(ग्रहण) का भ्रम हो जाता है ।

हे आत्मन् ! जैसे दर्पण के मुख्य भाग में नाना दृश्य उभरते हुए भासते हैं किन्तु वहाँ वे एक भी नही ंहोते हैं । इसी प्रकार राग, द्वेष, काम, क्रोधादि, साक्षी के एक भी धर्म न होकर अन्त:करण के माध्यम से उसमें भासते रहते हैं । जब गहरी नींद में जीव होता है तब अंहकार का लय हो जाने से वहाँ मन, बुद्धि की किसी प्रकार की सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी वृत्तियाँ भासमान नहीं होती । तब केवल एक आनन्द स्वरूप साक्षी ही रहता है ।

जैसे रंग के सहयोग से मणि में रंग भासता है । रंग का सम्पर्क दूर होने से मणि निर्मल ही भासित होती है । यदि मणि में रंग होता तो

रंग का सम्पर्क टुटने पर भी मणि रंगीन भासमान होती रहती किन्तु रंगीन प्रकाशका सम्बन्ध टूट जाने वह मणि निर्मल ही भासती है । इसी प्रकार आत्मा में स्त्री, पुरुष, पति, पत्नी, सुख-दुःख, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, कर्ता-भोक्ता, गुरु-शिष्यादि धर्म होते तो सुषुप्ति में भी उसी प्रकार भासमान होते रहते, जैसाकि जाग्रत या स्वप्न अवस्थामें भासते रहते हैं । इससे सिद्ध होता हैं कि यह सब मनोधर्म अध्यास के कारण ही आत्मा में भासते हैं । आत्मा तो समस्त द्वन्द्वों का द्रष्टा, साक्षी, आनन्द, स्वरूप, एक रस, परिपूर्ण, सनातन ब्रह्म है । केवल मन, बुद्धि चिदाभास में प्रतिविम्बित जीव अनात्म देहादि संघात में आत्म बुद्धि करने के कारण जन्म-मरण रूप बन्धनको प्राप्त होता रहता है ।

अनाद्यविद्योद्भव बुद्धि बिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः ।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्चपरिच्छिन्नपरःस एव हि ।४०।

हे आत्मन् ! अनादि अविद्या से उत्पन्न हुई बुद्धि में प्रतिविम्बित चेतन का प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है । बुद्धि के साक्षी रूप से आत्मा उससे पृथक् एवं बुद्धि के परिच्छेद से रहित है ।

हे प्रिय लक्ष्मण ! परमात्मा तो आकाशवत् एक अखंड ही है किन्तु घट, मठादि उपाधियों के कारण वह निर्विकार अखंड आकाश ही घटाकाश मठाकाश नाना रूप में भासता है । ठीक इसी प्रकार ब्रह्म एक अखंड निर्विकार होते हुए भी माया तथा अविद्या उपाधि के कारण ईश-जीव नाना रूपों में भासता है । माया में प्रतिविम्बित चैतन्य को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिविम्बित उसी चेतन ब्रह्म की संज्ञा जीवरूप कहलाती है। किन्तु बुद्धि का साक्षी आत्मा इन सभी द्वन्द्वों से पृथक् इनका प्रकाशक मात्र है । देह अवस्था, वृत्ति, प्राण, देह, इन्द्रियाँ, सभी पर प्रकाश्य परिच्छिन्न जड़ विनाशी, विकारी मंद, तीव्र एवं पटुता स्वभाव वाली है

किन्तु इन सबका साक्षी आत्मा सदा एकरस निर्विकार, अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप रहता है ।

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रस'त–
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत् ।
अन्योन्यमध्यास वशाप्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्म चेतसोः ।। ४१ ।।

हे आत्मन् ! जिस प्रकार अग्नि से तपे हुए लोह के गोले को देखने से अग्नि गोल एवं लोह लाल तथा उष्ण भासता है किन्तु गोल धर्म लोह का अग्नि पर एवं अग्नि का लाल, उष्ण धर्म लोह पर परस्पर अध्यारोपित हो भासता है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा की चैतन्यता धर्म जड़ बुद्धिपर एवं बुद्धि के कर्तृत्व–भोक्तृत्वाभिमान का आत्मा के साथ, अन्योन्याध्यास होने के कारण परस्पर एक दूसरे के धर्म भासते हैं । इसीलिये अज्ञानता वश बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त अनात्म वस्तुओं को ही अध्यास के कारण जीव अपना स्वरूप मानने लगता है ।

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जात विद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधि वर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ।।४२ ।।

हे लक्ष्मण ! विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति युक्त जिज्ञासु जब श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के समीप ब्रह्म विद्या प्राप्ति हेतु जाता है, तब वे सद्गुरु उसे ''तत्त्वमसि'' महावाक्य का बारम्बार उपदेश करते रहते हैं । जिससे उसकी इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि अनात्म देह संघात् में से आत्मबुद्धि (मैं भाव) का नाश हो जाता है एवं आत्मा में ही आत्म बुद्धि हो जाती है । वह अपने देह में ही सर्वोपाधि रहित उस निर्विशेष निरूपाधिक ब्रह्म का आत्मा रूप में साक्षात्कार कर लेता है । फिर

आत्मा रूप से प्रतीत होने वाले देह, प्राण, इन्द्रिय मनादि संघात को सत्ता हीन जान मन से उन सभी से आत्मबुद्धि का त्याग कर देता है जिन्हें अज्ञान काल में मैं रूप मान रखा था ।

हे आत्मन् ! जैसे सर्प एक बार अपनी कैचुल छोड़ पुनः उसी कैचुल में प्रवेश नहीं करता और उस कैचुल के साथ कोई कैसा भी भला-बुरा उपयोग करे किन्तु वह सर्प किसी को सुख-दुःख रूप फल प्रदान नहीं करता । इसी प्रकार सद्गुरु के द्वारा ज्ञान हो जाने पर जब जीव देहाभिमान का त्याग कर देता है फिर उस त्याग किये देहादिक अभिमान को पुनःग्रहण नहीं करता है । देह के सम्मान देनेवाले या दुःख देनेवाले के प्रति भूमीवत् उदासीन रहता है । पृथ्वी किसीके गुणधर्म को न ग्रहण करती है और न परिवर्तन रूप क्रिया ही करती है । आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष सभी अनात्म धर्मों का मन से सदा के लिये परित्याग कर देता है ।

■■■

आत्म चिन्तन

प्रकाश रूपोऽहमजोऽहमद्वयो–
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मल: ।
विशुद्ध विज्ञानघनो निरामय:
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रिय: ।।४३।।

ब्रह्मज्ञानी सद्‌गुरु कृपा से देहाध्यास से मुक्त हो मैं प्रकाश स्वरूप अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक् , पाणि, पाद, लिंग तथा गुदा इन चौदह त्रिपुटियों का प्रकाशक हूँ । अर्थात् ज्ञान स्वरूप मैं अनुभव रूप, अजन्मा, अद्वितीय, अखंड, चैतन्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निष्क्रिय, निरामय और एकमात्र आनन्द स्वरूप मैं साक्षी आत्मा हूँ ।

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्य शक्तिमा–
नतीन्द्रिय ज्ञानमविक्रियात्मक: ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै–
विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभि: ।।४४।।

मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, अविकृत रूप और अनन्तापार हूँ । वेद वादी पण्डित जन अहर्निश मेरा हृदय में चिन्तन करते हैं।

सदाने समत्वं न बन्धं न मुक्ति:
चिदानन्द रूप: शिवोऽहं शिवोऽहम् ।
''मति न लखे जो मति लखे , सो मैं शुद्ध अपार''

कर्मकाण्डी जिससे फलाशा करते हैं, भक्तगण जिसका गुणगान करते हैं, योगी जिनका ध्यान करते हैं , पण्डित जिसके लिये वाद-विवाद, शास्त्रार्थ करते हैं उन सबका एकमात्र उपास्य मैं ही हूँ । अर्थात् मुझ आत्मब्रह्म के पीछे ही सब गति कर रहे हैं ।

ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: -४/११ गीता

बन्ध और मोक्ष का तत्त्व जानने वाले पण्डित सदा सोऽहम् धारणा किये रहते है । ''पण्डितो बन्ध मोक्ष वित्''

एवं सदात्मानम खण्डितामना ।
विचारेमाणास्य विशुद्ध भावना ।
हन्याद विद्यामचिरेणा कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रूज: ।।४५।।

इस प्रकार सदा आत्मा का अखण्ड-वृत्ति से चिन्तन करने वाले पुरुष के अन्त:करण में उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही अविद्या का नाश कर देती है । जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई औषधि रोग को नष्ट कर डालती है ।

मुमुक्षु साधक निदिध्यासन के फल स्वरूप अनात्म देहादि वासना कामना से मुक्त हो जाने के कारण उनसे सम्बन्धी मंत्र, जप, पूजा, यज्ञ, उपवास, उपासना एवं योगादि कारको का अविद्या सहित नाश हो जाता है । जैसे भोजन से तृप्त हुए को भोजन में ग्लानी हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द से तृप्त ज्ञानी किसी भेद मूलक कर्म,उपासना, मंत्र, माला का सेवन नहीं करता है ।

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशय:
विभावयेदेकमनन्य साधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्म संस्थित: ।।४६।।

आत्म चिन्तन करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर और अन्त:करण को अपने आधीन करके बैठे तथा आत्मा में स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञान दृष्टि द्वारा एक आत्मा की ही भावना करे ।

अर्थात् बाह्य पूजा, पाठ, जप, माला, भजन कीर्तन छोड़ कर अपने श्वाँस प्रश्वाँस द्वारा पलने वाले प्राणों पर मन को केन्द्रित कर सोऽहम् ध्यान करे ।

विश्वं यदेत म्परमात्म दर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्व कारणे ।
पूणाश्चिदानन्दमयो ऽ वतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम् ।। ४७ ।।

यह विश्व, परमात्मा स्वरूप है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** ऐसा समझकार इस परिवर्तनशील नाम, रूपात्मक जगत् को अधिष्ठान अपरिवर्तनशील निराकार आत्मा में लीन करें । अर्थात् कार्य रहते हुए उसमें से नाम, रूप की कल्पना का त्याग कर दें । तब एक मात्र अधिष्ठान उपादान कारण ही बुद्धि में भासमान होता है उसी प्रकार इस दृश्यमान जगत् को आत्मा में लीन करें तब यह-वह, यहाँ-वहाँ, मैं-तू सब एक मात्र परमात्मा रूप ही निश्चय से भासते हैं । फिर नाम-रूप वाणी के विकार स्फूरित नहीं होते । सर्वत्र एक अद्वितीय आत्मा ही दिखाई पड़ता है ।

यदल्पं तन्मर्त्य वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्

छान्दोग्य उप.

वस्तु के नाम, रूप केवल वाणी का विकार है सत्य में तो उन वस्तु का उपादान कारण ही सत्य है । जैसे नाना नाम, रूप अलंकार, वाणी का विकार, मात्र है सत्य में तो एक स्वर्ण ही सत्य है । इसी प्रकार यहां एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', नेह नानास्ति किंचन** ।

■■■

ओंकारोपासना

हे लक्ष्मण ! जिन व्यक्तियों को सूक्ष्म आत्म तत्त्व समझ में नहीं आता है जो वेदान्त महावाक्यों के उपदेश सद्गुरु से श्रवण कर भी सोऽहम् मनन ध्यान नहीं कर पाते हैं, ऐसे मन्दबुद्धि वाले जिज्ञासुओं के लिये उनकी बुद्धि के सूक्ष्म बनाने के लिये आत्म तत्त्व धारण करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये दयालु ऋषियों ने ओंकार उपासना (अहंग्रह उपासना) करना बतलाया है ।

ओंम की ध्वनी करने का तरीका है 'घण्टा निनादवत्' घंटे के घोष की तरह । जिसमें चोंट पड़ने की ध्वनी तीव्र होती है एवं धीरे-धीरे कुछ क्षण बाद ध्वनी शांत हो जाती है । उसी प्रकार 'ओ' बोलने के लिये मुंह खोले एवं 'ओ' की चोंट होते ही ओठ तत्काल बंद करले । अब शेष 'म' कार की दीर्घ ध्वनी नासिका द्वारा जितना सहज बन सके बिना कष्ट पाये दीर्घ करे । एवं मन को फिर शान्तावस्था में बैठने दे । श्वाँस जो नासिका द्वार से 'मकार' रूप में बाहर निकाली है उसे पुन: नासिका द्वारा ही 'सो' पद का चिन्तन करने हुए पेट में भरने दे, एवं जब बाहर जावे तब 'अहम्' का विचार करे । शान्त मनोदशा में जो आनन्दानुभूति हो उसे अपना ही स्वरूप जाने एवं मन को उसी में डूबने दे, जब मन पुन: चंचल प्रतीत हो तब उसी प्रकार ओम की ध्वनी कर मन को शान्त कर आनन्दानुभूति करे । वही अपना वास्तविक निर्विषयक निर्विकार स्वरूप है । जबतक मन उस आनन्द का आस्वादन करना चाहे, उसे वहाँ से हटा अन्य कोई काम न दें । यह ओम् उच्चारण की शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक पद्धति है । बुद्धि से विचार करे वह सर्व द्रष्टा ओम स्वरूप साक्षी ब्रह्म मैं स्वयं आत्मा हूँ और अज्ञानवश जिस माता-पिता के

रज–वीर्य से उत्पन्न शरीर को मैं अपना स्वरूप मान रहा था यह मैं नहीं हूँ ऐसी धारणा मन में करता रहे ।

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत् ।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥४८॥

ब्रह्म समाधि प्राप्त ज्ञानी की जहाँ भी दृष्टि या वृत्ति पहुँचती है समाधि ही होती है ।

देहाभिमाने गलिते ज्ञातेन परमात्मने ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समा धय ॥

उस आत्मज्ञानी को किसी एकान्त देश में बैठ इन्द्रिय द्वार बन्द कर अहंग्रह ध्यान करने की जरूरत नहीं, किन्तु जिन्हें यह ब्रह्म ज्ञान बुद्धि गम्य नहीं होता है उन मन्द जिज्ञासुओं को अपनी बुद्धि परिपक्व एवं सूक्ष्म करने हेतु ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल ओंकार मात्र है । यह संसार वाच्य है एवं ओंकार इसका वाचक है । अज्ञान के कारण ही संसार की प्रतीति होती है, ज्ञान होने पर यह संसार सत्तावान् नहीं लगता, फिर जगत् स्वप्नवत् प्रतीति मात्र रह जाता है ।

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, सब कुछ ब्रह्म है और ओंकार उसका नाम होने के कारण नामी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इसलिये सब ब्रह्म रूप है अर्थात् ओंकार रूप है । यह सम्पूर्ण जगत् उन परब्रह्म परमात्मा का शरीर है और वे इसके अन्तर्यामी आत्मा हैं । इसलिये ये सर्वात्मा ब्रह्म ही हैं ।

अकार संज्ञः पुरुषो हि षिश्व को
ह्युकारक स्तैजस ईर्यते क्रमात् ।
प्राज्ञो वयमकारः परिपठयतेऽखिलैः
समाधि पूर्व न तु तत्त्वतो भवेत ॥४१॥

हे आत्मन् ! वास्तव में तो इन अंखण्ड, निरवयव परब्रह्म परमात्मा को चार पाद वाला कहना नहीं बनता है तथापि उनके समग्र रूप की व्याख्या करने के लिये उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार भेदों को लेकर श्रुतियों में अनेक स्थान पर उनके चार पादों की कल्पना की है उसी दृष्टि से मैं भी तुम्हें कहता हूँ ।

	ओंकार	अ	उ	म	अमात्र
समष्टी	शरीर	विराट्	हिरण्यगर्भ	अव्याकृत	शुद्ध
ईश्वर	अभिमानी	वैश्वानर	सूत्रात्मा	अन्तर्यामी	ब्रह्म
	शरीर	स्थुल	सुक्ष्म	कारण	महाकारण
व्याष्टि	अभिमान	विश्व	तैजस	प्राज्ञ	कूटस्थ
जीव					आत्मा
	अवस्था	जाग्रत	स्वप्न	मुषुप्ति	तुरीय

ओंकार में अ उ म ये तीन वर्ण है इनमें 'अकार' विश्व जाग्रत के अभिमानी जीव का वाचक है । 'उकार' तैजस स्वप्न के अभिमानी जीव का वाचक है और 'मकार' प्राज्ञ सुषुप्ति के अभिमानी जीव का वाचक है ।

अखण्ड ब्रह्म में उपरोक्त भेद ज्ञान मन्द बुद्धि वाले जिज्ञासु के लिये तत्त्व ज्ञानोदय से पूर्व कल्पित किया है । तत्त्व दृष्टि से एक अखंड परमात्मा में ऐसा कोई भेद नहीं है । असमर्थ को लक्ष तक पहुँचाने के लिये अखण्ड ब्रह्म पर दृष्टि कराने के लिये पादों की कल्पना की गई है । जब वह लक्ष्य को प्राप्त हो जावेगा वे पाद सब अपने आप खो जावेगा । जब पूर्णता का बोध जाग्रत हो जाता है तब अन्य की प्रतीति नहीं रह पाती है **'नेह नानास्ति किंचन'** ।

■ ■ ■

अहंग्रह–ध्यान

ओम के अ, उ, म, तथा अमात्र यह चार पाद है । जीव के चार पाद विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा जीव साक्षी आत्मा है तथा ईश्वर के चार पाद विराट, हिरण्यगर्भ, साक्षी ब्रह्म है ।

कोई भी कार्य उसके उपादान कारण से भिन्न नहीं वरन् उपादान कारण स्वरूप ही होता है । जैसे घड़ा कार्य मिट्टी उपादान से भिन्न नहीं बल्कि मिट्टी ही है । इसी प्रकार जगत् कार्य उपादान ईश्वर स्वरूप है उससे मिन्न नहीं । इसी प्रकार कार्य रहते हुए उसमें से नाम रूप की कल्पित सत्ता का मन से बाध करके उस कार्य को उसके कारण स्वरूप देखना ही निर्गुण उपासना कहलाती है । नाम, रूप ही सगुण साकार जगत् कहलाता है एवं इस नाम, रूप साकार जगत् का अधिष्ठान परमात्मा ही निर्गुण निराकार है । इस प्रकार जब समस्त संसार ब्रह्म स्वरूप है तो मैं भी ब्रह्म स्वरूप ही हूँ । आकाश में रहने वाला जीव जैसे आकाश से पृथक् नहीं रह सकता, उसी प्रकार सब देश, काल, वस्तु रूप परमात्मा होने से उनसे किंचित भी अन्य नहीं है । जो परमात्मा सबका प्राण है वह मेरा भी प्राण है । जो परमात्मा सबका आधार है वह मेरा भी आधार है । जो परमात्मा सबके हृदय में है वह मेरे हृदय में भी है । जो परमात्मा सर्व रूप है तब उस परमात्मा से मैं भी पृथक् नहीं हूँ । अस्तु ! वह परमात्मा मैं ही हूँ इस प्रकार का विचार करना लय चिन्तन या अहंग्रह उपासंना कहलाती है ।

विश्व:–एक स्थूल शरीर अभिमानी जीव की विश्व संज्ञा है एवं समस्त भिन्न–भिन्न स्थूल शरीर में अहं बुद्धि करने वाले अभिमानी को

विराट कहते हैं । दोनों की स्थूल शरीर में अहं बुद्धि होने से एकता है । इस प्रकार ओंकार की प्रथम मात्रा अ विश्व अभिन्न विराट में समानता है ।

तैजस:– एक सूक्ष्म शरीर में अभिमान करनेवाले जीव को तैजस कहते हैं । और सम्पूर्ण जगत् के जीवों के सूक्ष्म शरीर का एक चेतन द्वारा अभिमान करने से उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं । दोनों को उपाधि एक सूक्ष्म होने से दोनों का परस्पर अभेद है । **तैजस अभिन्न हिरण्यगर्भ ।**

इसी प्रकार ओंकार की द्वितीय मात्रा **उ** तैजस अभिन्न हिरण्यगर्भ में समानता है ।

प्राज्ञ:–व्यष्टि–कारण शरीर अज्ञान में अभिमान करने वाले को प्राज्ञ कहते हैं और समष्टि माया सहित चेतन को ईश्वर कहते हैं । दोनों की उपाधि एक कारण प्रकृति होने से दोनों का परस्पर अभेद है । इसी प्रकार ओंकार की तृतीय मात्रा **म** प्राज्ञ अभिन्न ईश्वर में समानता है और अमात्र जीव साक्षी आत्मा ईश्वर साक्षी परमात्मा से भिन्न नहीं है अर्थात् सोऽहम् ।

इस प्रकार पहले परस्पर अभेद चिन्तन करे । फिर लय चिन्तन द्वारा सबका सच्चिदानन्द–स्वरूप अमात्र रूप ब्रह्म से अभेद करके वह मैं हूँ ऐसा अहंग्रह ध्यान करना चाहिये ।

जैसे विश्व अभिन्न विराट, तैजस अभिन्न हिंरण्यगर्भ से भिन्न नहीं परन्तु हिरण्यगर्भ–स्वरूप है । वह हिरण्यगर्भ प्राज्ञ–अभिन्न ईश्वर से भिन्न नहीं परन्तु ईश्वर–स्वरूप है । वह जीव साक्षी आत्मा अभिन्न ईश्वर साक्षी परंब्रह्म से भिन्न नहीं परन्तु ब्रह्म स्वरूप है । वह शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ अर्थात् मेरा वास्तविक स्वरूप है । इस प्रकार ओम् द्वारा निर्गुण ब्रह्मका अहंग्रह ध्यान करना चाहिये ।

हे आत्मन् ! जितने भी संसार में पदार्थ हैं उन सबमें नाम और रूप दो अंश है । पदार्थों का निरूपण उनके नाम द्वारा ही उच्चारण करके ग्रहण अथवा त्याग होता है । इन नाम रूप दो अंशों में रूप भाग अपने नाम भाग से अलग नहीं है किन्तु नाम स्वरूप ही है । बिना नामके जाने, केवल वस्तु रूप से कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता । इससे सिद्ध हुआ कि सभी रूप नाम मात्र है ।

हे प्रिय लक्ष्मण ! यदि इस व्यापक ब्रह्माण्ड में से अस्ति, भाति , प्रिय रूप परमब्रह्म को निकाल लियाजावे तो फिर संसार केवल नाम मात्र ही है । जैसे स्वर्ण के अलावा अलंकार नाम मात्र है । सिनेमा अथवा टी.वी में प्रकाश के अलावा सभी आकृतियाँ नाम मात्र है ।

सभी नाम भाषा मात्र है । भाषा के बिना नाम का कोई अस्तित्व नहीं । भाषा का अस्तित्व स्वर व्यन्जन है । सभी व्यन्जनों के उच्चारण के लिये स्वर का आधार जरूरी है । बिना स्वर की सहायता के व्यञ्जन अकेला बोला नहीं जा सकता अत: सभी व्यञ्जन स्वर-मात्र है । सभी, स्वरों का आदि स्वर 'अ' है । **'अक्षराणामकारोऽ स्मि', 'अकारो वै** सर्वावाक्' अर्थात् सम्पूर्ण वाणी, अकार स्वरूप है । यदि ओ को बोल ओठ बन्दकर दिये जावे तो 'म' अपने आप ध्वनित होने लगता है । इस प्रकार सम्पूर्ण वाणी ओम स्वरूप है ।

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये
दुकार मध्ये बहुधा व्यवस्थितम् ।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीय वर्णं प्रणावस्य चान्ति मे ।।५०।।

नाना प्रकार से स्थित अकार रूप विश्व पुरुष को उकार में लीन करें और उकार तैजस रूप पुरुष को मकार रूप प्राज्ञ पुरुष में लीन करें ।

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम् ।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम
द्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमल: ।।५१।।

फिर कारणात्मा प्राज्ञ रूप मकार को भी चिद्घन रूप परमात्मा में लीन करें और ऐसी भावना करें कि वह नित्य, मुक्त विज्ञान स्वरूप उपाधि हीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ ।

एवं सदा जातपरात्मभावन:
स्वानन्दतुष्ट: परिविस्मृताखिल: ।
आस्ते स नित्यात्म सुख प्रकाशक:
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारि सिन्धुवत् ।।५२।।

इस प्रकार निरन्तर परमात्म भावना करते-करते जो आत्मानन्द में मग्न हो गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्य जगत् प्रपंच विस्मृत हो गया है वह नित्य आत्मानन्द का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त योगी निरन्तर आकाश के समान साक्षात् मुक्त स्वरूप हो जाता है ।

एवं सदऽभ्यस्त समाधि योगिनो
निवृत्त सर्वेन्द्रियगोचरस्य हि ।
विनिर्जिता शेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड् गुणात्मन: ।।५३।।

इस प्रकार जो निरन्तर समाधि योग का अभ्यास करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रिय गोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को जीतने वाले महात्मा को मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है ।

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि
स्तिष्ठेत्सदा मुक्त समस्तबन्धन:
प्रारब्धमश्वश्रभिमान वर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते तत: ।।५४।।

इस प्रकार अहर्निश आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे तथा कर्ता-भोक्ता पन के अभिमान को छोड़कर प्रारब्ध फल भोगता रहे, इस प्रकार चिन्तन युक्त जीव अन्त में साक्षात् मुझ ब्रह्म में ही लीन हो जाता है ।

■■■

आत्म चिन्तन की अनिवार्यता

हे प्रिय लक्ष्मण ! निरन्तर चिन्तन करने का आदेश सर्वत्र मिलता है किन्तु अन्य सत्ता का निरन्तर चिन्तन कभी नहीं हो सकता यह निश्चित सिद्धान्त है । क्योंकि अपने देह के भोग रोग, व्यवहार, निद्रादि काल में अन्य से मन हटजाना स्वभाविक ही है तब अन्य का निरन्तर चिन्तन क्रम टुट जाने से भक्ति व्यभिचारी हो जावेगी । जब कि शास्त्राज्ञा है कि निरन्तर चिन्तन करें ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' – गीता ८/७
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्य गामिना – गीता ८/८

निरन्तर आत्मा का स्मरण करके युद्धादि कर्म करे एवं अपनी बुद्धि चेतना को अन्यत्र न जाने दे ।

'मय्यर्पित मनो बुद्धिः मीमे वैष्यस्यसंशयम्' – गीता ८/७,

मुझ में अर्पण किये हुए मन बुद्धि से मुझे निःसन्देह प्राप्त करेगा !

यहाँ मुझे 'माम', 'मम' का अर्थ किसी अन्य पुरुष नहीं समझना है बल्कि स्वयं आत्मा ही जाने ।

'अहमात्मा' माम, मम, अहं का अर्थ आत्मा है और यह आत्मा कौन है 'अयमात्मा ब्रह्म' और यह आत्माब्रह्म कौन है तो कहा **'अहं ब्रह्मास्मि'** मैं ही आत्मा ब्रह्म हूँ ।

अर्थात् जहाँ–जहाँ 'अनन्य' शब्द पढ़ने में आवे उसका अर्थ यही समझना चाहिये जो अन्य न हो वही अनन्य होगा जहाँ अपने से भिन्न अन्य कोई माना गया हो वहाँ अनन्यता नहीं है ।

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

– गीता :८/१४

जो पुरुष मुझ में अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम का स्मरण करता है उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ होता हूँ अर्थात् उसे सहज ही आत्म रूप में नित्य प्राप्त रहता हूँ जबकि अन्य की उपासना करनेवाले,

विमूढ़ा नानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः – गीता: १५/१०

आत्मा-अनात्मा, अन्य-अनन्य, द्रष्टा-दृश्य, स्वयं प्रकाश-परप्रकाश्य, नित्यानित्य अधिष्ठान अध्यस्त का भेद जानने को ज्ञान कहते हैं । ज्ञान से रहित अनात्मा, अन्य, दृश्य, असत्य, परप्रकाश, अध्यस्त, असत्य, जड़ चित्र, मूर्ति, तीर्थ, मन्दिरादि अनित्य को ही अज्ञानी सम्पूर्ण जीवन परमात्मा मान उपासना करने वाले को आत्म उपलब्ध नहीं हो सकती । क्योंकि वे लक्ष्य से विपरीत दिशा की ओर तेजी से दौड़ने से लक्ष्य से दूर ही होते चले जाते हैं ।

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' – गीता : ८/१६

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।

– गीता : ८/१५

इस प्रकार निरन्तर अनन्य भाव से आत्म चिन्तन करने वाले महात्मा जन मुझको ही प्राप्त होते हैं, अज्ञानी की तरह उनका पुनर्जन्म नहीं होताा है । किन्तु जो आत्म चिन्तन न कर फल कामना एवं मताग्रह में पड़ किसी अन्य देवी, देवता, इष्टोपासना करते हैं वे साधन बलसे उन

लोकों में तो अवश्य पहुँचते हैं परन्तु,उनका वह फल क्षणिक एवं नाशवान है । उन्हें बारम्बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है ।

'आब्रह्म भुवनाल्लोका:पुनरावर्तिनो लक्ष्मण । – गीता : ८/१६

ब्रह्मलोकादि पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती है अर्थात् वहाँ साधन, भजन, कर्म, भक्ति का फल भोगने के बाद पुन: इसी दु:ख रूप संसार में आना पड़ता है ।

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु योग युक्तो भवार्जुन – गीता ८/१७

इसलिये सब समय अनन्य चित्त होकर रहे अर्थात् मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ यह भाव सदा बना रहे ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते –– गीता ९/२२

जो अनन्य प्रेमी मुझ परमेश्वर को निरन्तर आत्मा रूप से चिन्तन करते हैं उनको मैं सुलभ होता हूँ ।

हे प्रिय ! अनन्य शब्द से स्पष्ट होता है कि वह कोई अन्य पुरुष नहीं बल्कि मैं ही है । क्योंकि किसी की याद एवं भूल में, स्मरण या विस्मरण में मैं का होना अत्यन्त अनिवार्य मूलाधार है बाकी तो आगमापायी होने से अनित्य ही है । फिर जो इष्ट स्वयं मन बुद्धि से उत्पन्न होकर मन, बुद्धि के सो जानेपर स्वयं भी सो जाते हैं उन मन कल्पित इष्ट मूर्ति को मन, बुद्धि समर्पित कैसे हो सकेगी ? नीदं में वे तो स्वयं मन बुद्धि के अर्पित हो जाते हैं ।

यहाँ तात्पर्य है कि परमात्मा की आत्मा रूप से उपासना , चिन्तन निरन्तर किये बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता । ऐसे आत्म अभ्यासी को सदा द्रष्टा , साक्षी भाव में ही स्थिति बनाये रखना चाहिये । किन्तु अपने को किसी भी साधन,अवस्था, कर्म, वृत्ति गुण–दोषादि प्रकृति के धर्म में नहीं, फंसाना चाहिये । अपने को न किसी कर्म का कर्ता मानना है न फल भोक्ता बल्कि सब कर्म होते हुए देखते रहना है । जैसे

कोई अन्य कर्म कर रहा है और मैं तो मात्र द्रष्टा साक्षी हूँ । इस प्रकार प्रारब्ध शेष पर्यन्त जो अपने को साक्षी जानता रहे तो वह अन्त में ब्रह्म रूप ही हो जाता है ।

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोक कारणम् ।
हित्वा समस्तं विधिवाद चोदितं
भजेत्स्वमात्मानम थाखिलात्मनाम् ।।५५।।

हे आत्मन् ! कर्मों के फल स्वरूप प्राप्त होने वाले यहाँ से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक नाश एवं दु:ख रूप जान समस्त वेद में बताये विहित कर्मों का फल सहित त्याग कर देना चाहिये । कर्म रूप संसार का आदि, मध्य एवं अन्त होने से सब प्रकार भय शोक एवं कष्ट रूप ही है । जैसे धन या पुत्र की इच्छा करते ही उसकी प्राप्ति के लिये कष्ट, प्राप्त हो जाने पर रखने सम्भालने का कष्ट एवं लूटजाने, नष्ट हो जाने, मर जाने का भय एवं कष्ट बना ही रहता है । इसलिये कर्मासक्ति त्याग कर समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा रूप परमात्मा को अपने ही आत्मा रूप से भजन-चिन्तन करे कि वह मैं हूँ (सोऽहम्) ।

आत्मन्य भेदेन विभावयन्निदं
भवत्य भेदेन मयात्मना तदा ।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पय:
क्षीरे वियद्व्योम्न्यगनिले यथानिल: ।।५६।।

जिस प्रकार समुद्र जल में जल, दुध में दुध, तेल में तेल, महाकाश में घटाकाशादि और वायु में श्वाँस प्रश्वाँस मिल कर एक हो जाते है उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच को अपने आत्मा के साथ एवं सारे विश्व के जीवात्माओं को ब्रह्म से अभिन्न रूप चिन्तन करने से जिज्ञासु मुझ अखंड ब्रह्म आत्म सत्ता को ही प्राप्त हो जाता है ।

यो मां पश्याति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि सचमे न प्रणश्यति ।। गीता ६/३०

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्म रूप मुझ वासुदेव को व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है ।

जैसे अलंकार स्वर्ण से भिन्न नहीं बल्कि स्वर्ण रूप ही है या घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं बल्कि महाकाश रूप ही है । उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं बल्कि परमात्मा स्वरूप ही है । इसे भली प्रकार अभेद की साधक 'तथा भेद की बाधक । यु+क्तयों द्वारा अपने आत्मा को अद्वितीय ब्रह्म रूप जाने अन्य न माने

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचिन्'

''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'' यहाँ एक अखंड ब्रह्म सता से भिन्न अन्य कुछ नहीं है एवं जहाँ भेद भासता हो उसे असत्य ही जानना चाहिये । क्योंकि जगत्, जीव, जगदीश की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में प्रबल वेद प्रमाण है । जिज्ञासु को उन्हीं वचनों का सद्गुरु द्वारा श्रद्धा पूर्वक श्रवण, मनन, ध्यान करना चाहिये । भेद दिखने पर भी भेद कल्पित है । जैसे एक सूर्य का अनेक जल पात्र में दिखने वाले सूर्याभास अनेकों सूर्य भ्रम कराते हैं, जब कि सूर्य तो एक है किन्तु जल पात्रों के कारण प्रतिविम्ब अनेक है । अथवा कोई कार्य कारण से पृथक् सत्ता वाला नहीं होता, उसी प्रकार कोई सूर्य प्रतिविम्ब अपने विम्ब स्वरूप सूर्य से भिन्न नहीं बल्कि कार्य कारण अभिन्न स्वरूप की तरह प्रतिबिम्ब बिम्ब स्वरूप ही होता है भिन्न नहीं । इसी प्रकार मुझ आत्मा से नाना देह रूप घड़ों में भरे बुद्धि जल में प्रतिबिम्बित नाना जीवाभास मुख्य मुझ परमात्मा से भिन्न नहीं है । मुख्य मुझ आत्मा तो एक ही है। इसे ही भेद की बाधक युक्ति कहते हैं । जैसे स्वप्न के कारण स्वप्न द्रष्टा अनेक रूप

भासता है । उसी प्रकार माया, अविद्या के कारण एक ब्रह्म अनेक रूप भासता है किन्तु भेद भ्रम है, भेद सत्य नहीं है ।

इत्थं यदीक्षेत हि लोक संस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः ।
निराकृतत्वाच्छ्रुति युक्ति मानतो
यथेन्दु भेदो दिशि दिग्भ्रमादयः ।। ५७ ।।

हे आत्मन् ! यह जो दृश्यमान जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाण से बाधित होने के कारण चन्द्र भेद और दिशाओं में होनेवाले दिग्भ्रम के समान मिथ्या ही है । मिथ्या जगत् के प्रति ऐसी भावना करता हुआ लोक व्यवहार में स्थित मुनि इस जगत् को देखे ।

इस जगत् की सत्ता अपने अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् नहीं है या इस जगत् कार्य की सत्ता अपने उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

जैसे रस्सी आधार पर भासने वाला सर्प अपने अधिष्ठान रस्सी से भिन्न नहीं बल्कि वह भासने वाला सर्प अधिष्ठान रस्सी रूप ही होता है ।

अथवा स्वर्ण से बने अलंकार स्वर्ण रूप ही है, भिन्न नहीं । क्योंकि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता है । इस प्रकार जो नाना अलंकार को देख रहा है वह स्वर्ण को ही देख रहा है । इसी प्रकार जो जगत् को देख रहा है वह एक ब्रह्म को ही देख रहा है ।

'द्वितीया द्वै भयं भवति' 'नेह नानास्ति किंचन्'
'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति'

कठोप २/१/१०

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' ' एकोऽहं बहुस्याम

जो एक परिपूर्ण अखंड ब्रह्म सता से भिन्न अन्य सत्ता मानता है वह जन्म-मृत्यु भय से बच नहीं सकता ।

यहाँ एक परमात्मा के अलावा अन्य कुछ नहीं है । जैसे स्वप्न में साक्षी के अलावा अन्य कुछ नहीं होता है ।

जो यहाँ एक अखंड ब्रह्म सत्ता के अलावा अन्य सत्ता को मान उपासना करता है वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय: ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।–गीता ७/२४

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानने हुए मन–इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्द घन परमात्मा को जीव कल्याण के लिये मनुष्य की भांति जन्म लेने से मुझ अविनाशी निराकार, अजन्मा, असंगात्मा को व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रमुरेव च ।
न तु मामभिजानान्ति तत्त्वेनातरच्यवन्ति ते ।।

–गीता ९/२४

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ ; परन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से न नहीं जानते हैं इसी से अन्य देवी –देवताओं की पूजा उपासना कर उन लोकों को भोग कर पुन: इस जन्म–मृत्यु रूप संसार में गिरते हैं ।

नांह प्रकाश : सर्वस्य योगमाया सभावृत: ।
मूढ़ोऽयं नाभि जानाति लाकोमामजमप्ययम् ।।

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए यह अज्ञानी जन समुदाय मुझ जन्म रहित अविनाशी परमात्मा को नहीं जानते हैं । अर्थात् मुझको जन्म ने मरने वाला समझ जन्माष्टमी, रामनवमी उत्सव मनाते रहते हैं ।

एक ही परमात्मा अनेक रूप हो जाने से यहाँ उसके अलावा अन्य कोई नहीं जैसे नाना अलंकार एक स्वर्ण ही है ।

"भेद दृष्टि से हानि", "सबकुछ एक अद्वितीय आत्मा ही है"

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदम् सर्वं यदयमात्मा ।।

बृहदा. अप. ४/५/७

सब उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न समझते हैं – यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये भूत और ये सब जो कुछ भी है यह सब आत्मा है ।

हे प्रभो ! शरीर, जीव तथा ईश्वर में क्या भेद है ? इस भेद को मुझे समझाने की कृपा करें ।

हे लक्ष्मण ! तू ध्यान पूर्वक श्रवण कर । यह दृश्य शरीर जड़ है । इसे अपना एवं अन्य का ज्ञान नहीं है और जीव चेतन होने से अपने व अन्य सबको भी जानता है । जीव चेतन होने से घट को जैसे जानता है, इसी प्रकार शरीर को घटवत् जीव जानता है । जैसे घट स्थित आकाश घट से पृथक् है उसी प्रकार देह स्थित जीव देह से पृथक् है ।

शरीर क्षण भगुंर है जीव अविनाशी है, देह विकारी है जीव अविकारी है ।

जीव व मेरे स्वरूप में जल तरंग वत् नाम मात्र का भेद है । अविद्या उपाधि से मैं ही जीव एवं माया उपाधि से मैं ही ईश्वर रूप होता हूँ एवं इन अविद्य,माया उपाधि से रहित मैं असंग ब्रह्म स्वरूप ही हूँ ।

मुझ वासुदेव से अपने को व विश्व को अन्य मानना महान पाप एवं मूर्खता है । अर्थात् आत्मा, परमात्मा एवं ईश्वर में अभेदता है ।

जैसे घटाकाश आकाश रूप से तथा दर्पण नाश होने पर प्रतिविम्ब, विम्ब रूप से स्थित हो जाता है, वायु शान्त होने से तरंग जल रूप स्थिर हो जाती है, इसी प्रकार अविद्या नाश होने पर जीव ब्रह्म रूप में स्थित हो जाता है, जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश घटाकाश से अभिन्न है, उसी तरह व्यापक परमात्मा जीव से सर्वदा अभिन्न है ।

परमात्मा से भिन्न यहां कुछ नहीं हैं । समस्त प्राणियों के भीतर वही चेतन ब्रह्म तत्त्व विद्यमान है जिसे आत्मा कहा जाता है । देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के संयोग में अभिमान करने वाला आत्मा का प्रतिविम्ब ही जीव कहलाता है । इसी जीव रूप प्रतिविम्ब का विश्व रूप आत्मा से सर्वदा अभेद है, घटाकाश महाकाश की तरह । इस अभेदता का बोध जिसे हो जाता है वही ज्ञानी मुक्त है । जिसने उस साक्षी द्रष्टा आत्मा को जान लिया उसने ही परमात्मा को भी जान लिया ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

– गीता : ७/७

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति – गीता : १८/६१

हृदि सर्वस्य विष्ठितम् – गीता : १३/१७

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो – गीता : १५/ १५

जैसे सूत्र की मणियाँ सूत्र की होती है और उसी सूत्र से मणि माला बनती है । वह जिस प्रकार ओत-प्रोत कपड़े के ताने बाने की तरह एक है इसी प्रकार इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण एक मात्र आत्मा ही है, आत्मा से परे अन्य कोई नहीं है । जैसे स्वप्न के सभी जड़-चेतनात्मक जगत् का उपादान एवं निमित्त आधार एक स्वप्न साक्षी ही है वहाँ उसके अलावा अन्य किंचित् भी नहीं है ।

जैसे नौका पर जानेवाले को किनारे के वृक्ष चलते हुए से, बादलों के दौड़ने पर चन्द्रमा भागता हुआ सा, बालक के चक्राकार घूमने से अपने चारों ओर का दृश्य घूमता हुआ सा, अनेक जल पात्र में अनेक सूर्य-चन्द्र से, कांच मन्दिर में एक दर्शक अनेक से भासित होने पर भी मिथ्या ही

है । इसी प्रकार यहाँ भी कार्य कारण रूप यह एक परमात्मा ही है । वही भोक्ता-भोग्य-भोग, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, कर्ता-कर्म-क्रिया, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय और ध्याता-ध्येय -ध्यान रूप हुआ है ।

इसी प्रकार सर्वत्र अपने आपको सर्व रूपों में असंग ही जाने । जैसे स्वप्न की समस्त क्रियाओं से स्वप्न द्रष्टा असंग ही रहता है, उसी प्रकार इस जाग्रत, स्वप्न के समस्त शुभाशुभ क्रियाओं से मैं जाग्रत, स्वंप्न का साक्षी असंगात्मा हूँ । **'असंङ्गो हि अयं पुरुषः' 'असङ्गोह्यमात्मा'** इसी निष्ठा में ब्रह्मचारी काल क्षेम करे ।

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मक
तावन्मदाराथन तत्परो भवेत् ।
श्रद्धालुरत्यूर्जित् भक्ति लक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ।।५८।।

हे आत्मन् ! जबतक समस्त चराचर संसार अपना आत्म स्वरूप विचार दृष्टि में प्रतीत न होने लगे तबतक निरन्तर 'सोऽहम्' उपासना करता रहे।

'जड चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानी'

जो श्रद्धालु भक्त निरन्तर आत्मा में ही मनवाला और आत्मा चिन्तन में ही अपने जीवन की आहुती कर देनेवाले, आत्मचिन्तन में ही रमण करते वाले, आत्म भाव में ही सन्तुष्ट होते हैं, अन्य किसी देव, लोक तथा भोग की इच्छा नहीं करते हैं, न उपासना करते हैं । ऐसे उन अनन्य आत्म चिन्तकों को निरन्तर ब्रह्मानुभूति होती रहती है । जहाँ भी उनकी वृत्ति या दृष्टि जाती है वे ब्रह्म समाधि में ही स्थित रहते है ।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परमामृतम् ।।

सरस्वती रहस्य उप.

जिस ज्ञानी के मन में मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय हो चुका है उस योगी पुरुष के लिये अब कुछ भी करना, पाना, जानना, देखना, सुनना शेष नहीं है; वह कृतकृत्य हो चुका है । यदि वह आत्म ज्ञान पाकर भी कर्म, उपासना में लगा रहता है तो उसे अज्ञानी ही जानना चाहिये ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित ।।

जाबाल दर्शन उप.१/२३

ज्ञानी, कर्म करते हुए एवं न करते हुए सदा मुक्त ही रहता है । क्योंकि उसके मन में कर्म के प्रति कर्तापनका अहंकार नहीं है तथा फलभोग में आसक्ति नहीं होती है, इसलिये उसे कर्म बन्धन नहीं होता है ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतोवापि स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

बराह उप.

हे लक्ष्मण ! जिस मुमुक्षु ने अपने आत्मा को मैं रूप जान लिया है, आत्मा के अतिरिक्त किसी देवता, ईश्वर में रुचि नहीं है, जो आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है अब उसको कुछ भी करना शेष नहीं है । उसे अब कुछ पाना शेष नहीं है । आत्मा को जानने के बाद कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है । करना अज्ञानावस्था में ही रहता है। अमृत आत्मा नित्य प्राप्त है । कहीं दूर जाने की या कठिन साधन करने की जरूरत नहीं है । वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है । अमृत आत्मा को मृत्यु का भय नहीं रहता ।

यह मोक्ष काई वस्तु नहीं जिसे किसी साधन द्वारा प्राप्त किया जाये, न कोई स्थान है जहां की यात्रा कर पहुँचा जाये, न कोई भोग है जिसे भोगा जा सके, न कोई रस है जिसका रसास्वादन किया जा सके । न यह स्वर्ग में, न पाताल में, न भूमि पर कोई दृश्य एवं ग्राह्य पदार्थ है ।

विषयों में रस ही संसार बन्धन है एवं विरसता ही मोक्ष है । मन ही आसक्त होता है, यही विरसता को प्राप्त होता । अतः मन ही बन्ध-मोक्ष का कारण है ।

'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'

हे लक्ष्मण ! आत्मा अद्धय अखण्ड है, सर्व रूप उसी का विस्तार है। भिन्नता की प्रतीति ही अज्ञान है एवं एकत्व का बोध ही ज्ञान है । यह मैं नहीं - वह मैं हूँ- सोऽहम्, शिवोऽहम् ऐसा कहना भी अज्ञान एवं भेद दृष्टि ही है । जब एक आत्मा से पृथक् यहाँ कुछ नहीं तब-यह, वह कहाँ है ? जिसे आत्मा की, परमात्मा की अखण्डता का बोध नहीं है वही सोऽहम्, शिवोऽहम् कहता है । एक का बोध हो जाने पर मैं बचता ही नहीं तब वह मैं हूँ यह कहना भी सम्भव नहीं होता है । दो सत्य, दो आत्मा कहीं नहीं होते । दो नहीं तब ग्रहण,त्याग एवं चिन्तन,ध्यान, जप भी कैसे हो सकता है ?

हे लक्ष्मण ! यह ध्यान, धारणा, समाधि अज्ञानियों के लिए है, जो ज्ञान प्राप्ति की योग्यता दिलाने हेतु उपयोगी है । आत्मज्ञान को प्राप्त होने के बाद इन साधन का त्याग करना ही कर्तव्य है । जमीन खोदने के साधन, पानी प्राप्त होने के बाद उनका त्याग ही कर्तव्य है । नदी पार होने पर नौका का त्याग ही कर्तव्य है, उसके बाद उसका कोई उपयोग नहीं । उसी प्रकार आत्म ज्ञान प्राप्त होने के बाद जितने साधन प्राप्ति के लिये अपनाये गये थे उन सभी का त्याग करना ही धर्म है अन्यथा वे साधन भी बाद में बन्धन बन जाते हैं । परमात्मा के लिये अप्रयास ही मार्ग है । **'नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय'** इस आत्मा को मैं रूप जानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग परमात्मा प्राप्ति के लिये नहीं है ।

■■■

अध्यात्म रामायण

देहाभिमानिनः सर्वे दोषाःप्रादुर्भवन्ति हि ।।

अयोध्याकाण्ड ४/३२

इस देहाभिमान युक्त पुरुष में ही समस्त दोष प्रकट हुआ करते हैं। आत्माभिमान युक्त पुरुष को देहाभिमान न होने से वह पापों एवं पुण्यों से मुक्त रहता है ।

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ।। ४/३३

मैं अनात्म शरीर हूँ, मेरी यह जाति, आश्रम, धर्म है, इसप्रकार आत्मा में भ्रान्त धारणा करनेवाली बुद्धि को ही अविद्या कहते हैं। तथा मैं द्रष्टा, साक्षी, असंग, निष्क्रिय आत्मा हूँ इस शुद्ध बुद्धि का नाम ही विद्या है ।

अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्यानिवर्तिका ।
तस्याद्यत्नः सदाकार्यो विद्यभ्यासे मुमुक्षुभिः ।। ४/३४

देहाभिमान, जाति अभिमान, आश्रम अभिमान, धर्माभिमान रूप अविद्या जीव के जन्म-मरण रूप संसार बन्धन का मूल कारण है । देह संघात् से भिन्न मैं, द्रष्टा, साक्षी, असंग, चैतन्यात्मा हूँ यह विद्या समस्त देह, जाति, आश्रम, धर्म सम्बन्धि अभिमान का नाश करने वाली है । अतः मोक्षाभिलाषी जनों को समस्त कर्मों को बन्धन रूप जान उनका त्याग कर ब्रह्म विद्या को प्राप्त करने हेतु सद्गुरु की शरण में जाने की ही चेष्टा करना चाहिये । एवं उनसे प्राप्त ब्रह्मविद्या का ही दृढ़ता से श्रद्धा भक्ति पूर्वक अनन्य भाव से अभ्यास करना चाहिये ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धमेनाग्निरिवा वृता: ।

भगवत् गीता १८/४८

क्योंकि समस्त कर्म देहाभिमान एवं भेद बुद्धि द्वारा ही सम्पन्न होने से अविद्या युक्त बन्धन रूप है । निष्क्रिय आत्मा में कर्ता भाव, अद्वितीय ब्रह्म सता में द्वैत भाव बिना लाये कोई भी शुभ या अशुभ कर्म आरम्भ नहीं होता है । जैसे अग्नि प्रकाश रूप होने पर भी धूंवे से युक्त होकर ही प्रकट होती है उसी प्रकार कोई भी कर्म बिना द्वैत भाव के नहीं है । इसलिये-

ओदौ स्ववर्णाश्रम वर्णिता: क्रिया:
कृत्वा समासादित शुद्ध मानस: ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्त साधन:
समाश्रये त्सद्गुरुमात्म लब्धये ।। उत्तर काण्ड ५/७

मोक्ष अभिलाषी साधक को ज्ञानाधिकारी होने के लिये सर्वप्रथम अपने वर्ण, जाति आश्रमोचित यथावत् निष्काम भाव द्वारा कर्म पालन कर चित्त शुद्ध होजाने पर आत्म जिज्ञासा उदय होते ही कर्मों को छोड़ दे ! और विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धादि साधनों से युक्त होकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

क्रिया शरीरोद्भव हेतुरादृता
प्रिया प्रियौ तौ भवत: सुरागिण: ।
धर्मेतरौ तत्र पुन: शरीरकं
पुन: क्रिया चक्रवदीर्यते भव: ।।

उत्तराकाण्ड ५/८

कर्म देहान्तर प्राप्ति के लिये ही स्वीकार किये गये हैं । क्योंकि कर्म का कर्ता देहाभिमानी शुभाशुभ दोनों प्रकार की ही क्रियाएँ करता है । उनसे उसे धर्म और अधर्म दोनों की ही प्राप्ति होती है । धर्म के फल स्वरूप वह उर्ध्वगति प्राप्तकर सुख भोग एवं अधर्म के फल स्वरूप अधोगति प्राप्तकर दु:ख भोग करता है । इसलिये इस जीव को ऊँच-नीच योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है । जीव प्रारब्ध भोग के साथ नूतन क्रियमाण कर्म कर

पुन: कर्मानुसार जीवन प्राप्त करता है । इसी प्रकार वह संसार चक्र में दिन रात की तरह अनादि से जन्म–मृत्यु को प्राप्त होता आरहा है ।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते
विधैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।।

उत्तराकाण्ड ५/९

संसार का मूल कारण अज्ञान ही है । और सद्गुरु द्वारा तत्त्वमसि विधि वाक्यों से उस अज्ञान का नाश ही जीव भाव, कर्ता–भोक्ता भाव, बन्ध भाव, पाप–पुण्य भाव रूप संसार बन्धन से मुक्त होने के उपाय है । अन्धकार का नाश करने में जैसे प्रकाश समर्थ होता है उसी प्रकार अज्ञान का नाश ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । अज्ञान से होने वाले कर्म अपने उपादान कारण अज्ञान का नाश नहीं कर सकते ।

ना ज्ञानहानिर्न च राग संक्षयो
भर्वेत्तत: कर्म सदोष मुद्भवेत् ।
तत: पुन: संसृतिरप्यवारिता
तस्माद् बुधो ज्ञानविचारवाःभवेत ।।

उत्तराकाण्ड ५/१०

अज्ञान से कर्म का जन्म होता है । उन दोष युक्त सकाम कर्मों के द्वारा एवं उसके कार्य राग–द्वेष का नाश नहीं होता है, बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्म की ही उत्पति होती है । जिसके फल स्वरूप कर्म कर्ता को पुन: संसार की प्राप्ति अवश्य होती है । इसलिये विवेकी जिज्ञासु को ज्ञान के यज्ञादि बहिरंग साधनों का त्यागकर वेदान्त श्रवण, मननादि अन्तरंग साधनों को ही श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिये ।

देहाभिमानादयिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्धयति ।। – उत्तरकाण्ड ५/१४

कोई भी कर्म, कर्ता भाव एवं फल प्राप्ति की इच्छा इस भेद बुद्धि से होते हैं एवं भेद बुद्धि देहाभिमान से होती है; जबकि ज्ञान समस्त अहंकारों के नाश होने पर सिद्ध होता है । अर्थात् भेद बुद्धि से कर्म एवं अभेद बुद्धिरूप ज्ञान का सम समुच्चय कभी नहीं हो सकता । कर्म से बुद्धि वृत्ति अनेक प्रकार के साधन सामग्री की चिंता में बहिर्मुख प्रवाहित होती रहती है एवं ज्ञान समस्त अनात्म वृत्ति का त्याग कर एकमात्र आत्मनिष्ठ अन्तर्मुखता से प्राप्त होता है ।

तस्मात्त्यजेत्कार्य मशेषतः सुधी
र्विद्या विरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसन्धान परायणः सदा
निवृत्त सर्वेन्द्रिय वृत्ति गोचरः ।। – उत्तरकाण्ड ५/१६

इसलिये समस्त इन्द्रियों के धर्मों के अहंकार का त्याग करके निरन्तर आत्मानुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाले अज्ञान जनित कर्मों का सर्वथा त्याग करदे । क्योंकि विद्या की विरोधी अविद्या होने के कारण कर्म का ज्ञान के साथ सम समुच्चय नहीं हो सकता ।

यावच्छरीरादिषु माययात्मधी
स्तावद्विधेयो विधिवाद कर्मणाम् ।
ने नीति वाक्यै रखिलं निषिध्यत
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेक्रियाः ।।– उत्तराकाण्ड ५/१७

जबतक माया से मोहित रहने के कारण अज्ञानी का शरीर, जाति आश्रमादि में ''मैं भाव'' है तभी तक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है । जिस परमानन्द सुख प्राप्ति हेतु वेदोक्त कर्म किये जाते थे, सद्गुरु द्वारा ''यह भी

नही'' 'यह भी नहीं' 'नेति-नेति' वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म वस्तु जन्य सुख को कि यह ब्रह्मानन्द नहीं है, इन कर्म साधनों से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होगी इस प्रकार जान लेने पर फिर उसे समस्त कर्मो को छोड़ देना चाहिये ।

सर्वेषु प्राणी जातेषु ह्यंहमात्मा व्यवस्थित: ।
तमज्ञात्वा विमूढ़ात्मा कुरुते केवलं बहि: ।। ७/७४

समस्त प्राणियों में चेतन रूप से मैं आत्मा ही स्थित हूँ । उसे न जानकर मूढ़ पुरुष केवल बाहर जड़ पाषाणादि में ही भगवत् भावना करता है ।

क्रियोत्पनैंक भेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम् ।
भूताव मनिनाचार्यामार्चितोऽहं न पूजित: ।। ७/७५

किन्तु क्रिया से उत्पन्न हुए अनेक पदार्थों से मैं पूजित नहीं होता हूँ । जड़ प्रतिमा एवं तोते की तरह जप, मंत्र श्लोकादि पाठ द्वारा भी मुझे कोई प्रसन्न नहीं कर सकता है । अर्थात् मैं जड़ क्रियाओं द्वारा उन भक्तोंपर सन्तुष्ट नहीं होता हूँ । जो अन्य जीवों के साथ द्वेष भाव रख उनके रूप में छुपे मुझ आत्म ब्रह्म का तिरस्कार करने वाले हैं, उन मूर्ख भक्तों द्वारा मेरी प्रतिमा की पूजा करने पर भी मैं उनके द्वारा वास्तव में पूजित नहीं होता हूँ । अर्थात् मैं उनकी पूजा को स्वीकार ही नहीं करता हूँ । जो मेरे चैतन्य स्वरूप साकार मूर्ति के साथ द्वेष, कपट, हिंसा-भाव रखते हैं, वे इस आसुरी स्वभाव के कारण बारम्बार अधोगति को ही प्राप्त होते रहते हैं । उन्है मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो पाती है ।

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभि: ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ।। ७/७६

मुझ परमात्म देव का अपने जाति, आश्रम, वर्णानुसार प्रतिमा आदि में तभी तक पूजन करना चाहिये, जबतक कि समस्त प्राणियों में और अपने आपमें एक ब्रह्म निष्ठा जाग्रत न हो सके । सद्गुरू की प्राप्ति के बाद उसका फल सहित त्याग कर देना ही कर्तव्य है ।

यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च ।
भिन्नदृष्टे र्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ।। ७/७७

जो भी कर्म किये जाते हैं वे अपने में जीवत्व एवं कर्तृत्व बुद्धि द्वारा फलदाता ईश्वर को भिन्न मानकर ही किये जाते हैं । इस प्रकार एक अखंड निष्क्रिय सच्चिदानन्द आत्मब्रह्म में भेद बुद्धि करने वाले को जन्म-मरण रूप भय की ही प्राप्ति शास्त्रज्ञ बताते हैं । इसमें-

'द्वितीया द्वै भयं भवति'

भेद दर्शी कभी अभय को प्राप्त नहीं होता है इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है ।

तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वर जीवयोः ।। ७/८०

इसलिये मुमुक्षु भेदोपासना का सर्वथा त्यागकर दे, क्योंकि जीव-ईश्वर यह दो भेद भ्रम एक अखंड ब्रह्म सत्ता में अविद्या तथा माया उपाधि के कारण ही प्रतीत होते हैं । जैसे एक अखंड आकाश में घट, मठ यह दो उपाधियों के कारण यह आकाश घटाकाश, मठाकाश नामवाला मिथ्या पुकारा जाता है । घट मठ उपाधि रहित आकाश अखंड है । इसीप्रकार अविद्या माया रहित परमात्मा एक ही है ।

मामतः सर्व भूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम् ।
एकं ज्ञानेन मानेन मैऽया चार्चेदाभिन्नधीः ।। ८/७८

इसलिये अभेददर्शी ज्ञानी भक्त समस्त परिच्छिन्न प्राणियों में स्थित मुझ एकमात्र अपरिच्छिन्न परमात्मा का सोऽहम् भाव रख सब प्राणियों के प्रति समता भाव, मैत्रीभाव, आत्मीय भाव तथा एकत्व भाव द्वारा पूजन करें । तभी वे मोक्ष को प्राप्त कर सकेंगे । भेद भाव से उपासना करने वाले करोड़ों जन्म में भी मुक्त नहीं हो सकेंगे ।

■■■

उपदेश का उपसंहार

रहस्यमेतच्छ्रुति सार सङ्ग्रहं
मया विनिश्चित्य त्वोदितं प्रिय ।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात् ।। ५९ ।।

हे प्रिय लक्ष्मण ! सम्पूर्ण श्रुतिओं के सार रूप इस १०८ उपनिषदों के गुप्त रहस्य को मैंने निश्चय करके तुम्हारे जिज्ञासा पूर्वक किये प्रश्न के सन्दर्भ में तुमसे कहा है । यदि तुमने इसका एकाग्रता एवं श्रद्धा पूर्वक श्रवण किया है तो फिर मनन एवं ध्यान के फल स्वरूप तत्काल पापों से मुक्त हो अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानंद ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाओगे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । इसी प्रकार जो भी श्रद्धावान् विचारेगा वह भी तुम्हारी तरह मृत्यु रूप संसार से मुक्त हो जावेगा ।

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग
न्मामैव सर्व परिहृत्य चेतसा ।
मद्भावना भवत शुद्ध मानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः ।।६० ।।

हे भाई ! यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है वह सब माया मात्र है । इसकी अपनी पृथक् सत्ता नहीं है, यह तो जल में भासनेवाली लहर, स्वर्ण में-भासने वाले अलंकार, मरुस्थल में भासने वाले जलाशय,

चन्द्रमा में भासने वाले हरिन, सीप में भासने वाली रजत, नींद में भासनेवाले स्वप्न जगत् के तुल्य असत ही है ।

'संसार स्वप्नं तजमोह निद्रा'

अनित्य मिथ्या संसार में सत्य एवं सुख बुद्धि का त्यागकर अपने आत्मा में ही सच्चिदानन्द 'सोऽहम्' भाव कर ब्रह्मानन्द का अनुभव करो एवं जन्म-मरण के रोग से मुक्त हो जाओ । इस नश्वर मिथ्या दुःख रूप संसार में जो सत्य नित्य एवं सुख बुद्धि कर इसे प्राप्त करने हेतु इस देव-दुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर देता है एवं मुक्ति प्राप्ति का साधन आत्मज्ञान नहीं करता है वही क्लेश को प्राप्त होता है । हे प्रियात्मन् ! तुम इस आत्म निष्ठा द्वारा कल्याण को प्राप्त होओ यही मेरी तुम्हारे प्रति शुभेच्छा है ।

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्कम् ।
सोऽहं स्वपादश्चतरेणुतभिः स्पृशन
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ।।६१।।

जो पुरुष अपने चित्त को अपने निर्गुण आत्मब्रह्म में या कभी-कभी सगुण साकार जगत् में लगाता है तो भी वह ब्रह्मज्ञानी के संस्पर्श में कुछ काल श्रद्धा पूर्वक रहजाने से वह सद्गरु अपने अद्वितीय आत्म ज्ञानोपदेश से उसे पवित्र कर मुक्त करा देता है । जैसे सूर्य की एक रश्मि महान् भयानक अन्धकार राशि को तत्काल विलीन करदेता है । उसी प्रकार यह उपदेशामृत जिज्ञासुओं के संशय भ्रम रूप अज्ञान अंधकारको विनष्ट कर देने में प्रचंड तेजोमय सूर्यवत् है । क्योंकि इस ज्ञान से पवित्र इस पृथ्वी पर अन्य कुछ नहीं है ।

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'

गीता ४/३८

इस आत्म ज्ञान के यथार्थ प्रवक्ता ही परमात्मा के सच्चे प्रेमी है तभी उनके लिये कहा जाता है कि ज्ञानी मेरी आत्मा है पृथ्वी पर उससे अधिक मेरा प्रिय कोई नहीं है जो मेरे तत्त्वज्ञान को प्रीति सहित मेरे भक्तों को निष्काम भाव से समझाता है । – गीता १८/६९

'ज्ञानी प्रभुहि विशेष प्यारा' (रामायण)
प्रियो हि ज्ञानिनो', 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम'

– गीता ७/१७, १८.

ज्ञान यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मति – गीता १८/७०

उन आत्मज्ञानी महात्मा से प्रिय पृथ्वी पर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला अन्य नहीं है । उनके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ द्वारा पूजित होता हूँ । इसलिए ऐसे ज्ञानी संत तो मेरी आत्मा होने से मेरा ही स्वरूप है और वे मुझे प्रियातिप्रिय है । क्योंकि वो मेरे अतिरिक्त किंचित् भी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं ।

'ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति'

विज्ञानमेतदखिलं श्रुति सारमेकं
वेदान्त वेद्य चरणेन मयैव गीतम् ।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरु भक्ति युक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्ति ।।६२।।

हे प्रियात्मन् ! यह अद्वितीय ब्रह्मज्ञान परम गोपनीय प्रत्यक्ष फल प्रदायक पवित्रातिपवित्र धर्मयुक्त साधन करने में बड़ा सरल एवं अविनाशी है । समस्त श्रुतियों का सार रूप है । जो वेद वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, 'स विज्ञेयः'
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता । गीता ११/१८

‘आत्मावा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो’

यह आत्मा ही जानने योग्य, देखने, सुनने, मनन, एवं ध्यान करने योग्य एकमात्र सत्य वस्तु है । उसे ही मैंने तुम्हारे कल्याणार्थ जिज्ञासु भाव द्वारा पूछने पर अति संक्षिप्त में कहा है ।

हे प्रियात्मन् ! जो मुमुक्षु विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षादि साधन सम्पन्न होकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण ग्रहण कर इसका, श्रवण, मनन, करेगा तो वह इसी जन्म में कैवल्य मुक्ति लाभ करेगा इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं ।

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य पापकृत्तम:

गीता : ४/३६

अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग व्यवसितो हि सः ।।

गीता ९/३०

यदि कोई दुनियाँ का सब से बड़ा पाप कर्म करने वाला पापी, दुराचारी भी अनन्य भाव से इस राम गीता का सद्गुरु के श्री चरणों का आश्रय लेकर श्रवण, मनन कर सके तो वह साधु ही मानने योग्य है । क्योंकि वह अब अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्म भाव में दृढ़ निष्ठा को प्राप्त हो चुका है । अतः वह भी नि:सन्देह सम्पूर्ण पाप समुद्र से भलीभाँति मुक्त हो जावेगा ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि र्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्व कर्माणि भस्मसात्कृरुते तथा ।।

– गीता : ४/३७

जैसे प्रज्वलित अग्नि समस्त ईधनों को भस्म कर देती है या सूर्य प्रकाश रात्रिके घोर अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि

जीव के अनादि कालिन सम्पूर्ण संचित् एवं क्रियमाण नूतन कर्म राशि को जलाकर भस्म कर देती है ।

'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि'

इस ब्रह्मविद्या को सद्‌गुरु द्वारा जानकर फिर तू इस प्रकार शोक-मोह को प्राप्त नहीं होगा ।

'यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धि मितो गताः

गीता १४/१

सद्‌गुरुओं से यह ब्रह्मात्मज्ञान जानकर मुनिजन भी इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

- गीता १४/२

हे प्रिय ! इस ज्ञान को आश्रय करने वाले अर्थात् श्रवण, मनन एवं धारण करनेवाले उत्तम अधिकारी मुमुक्षु ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाने के कारण सृष्टि के आदि में पुनः देह भाव को प्राप्त नहीं होते हैं एवं प्रलय काल रूप देहनाश के समय भी अज्ञानियों की तरह व्याकुल नहीं होते हैं ।

''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति''

- (ब्रह्मद. उप)

इस आत्म निष्ठावान् ज्ञानी पुरुष के प्राण अज्ञानी जीव की तरह देह त्याग करने पर अन्य लोकों में नहीं जाते हैं । वह इस शरीर के नष्ट होने पर यही ब्रह्म के साथ एकत्व को प्राप्त हो जाता है जैसे घट नाश से घटाकाश महाकाश रूप हो जाता है ।

वृक्षग्रच्युतपादो यः स तदैव पतत्यधः ।
तद्वज्ज्ञान वतो मुक्तिर्जायते निश्चितापि तु ।।

- शिवगीता १३/३३

जैसे वृक्ष के डाल से गिरा पत्ता बिना इच्छा के भी पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है या पानी स्वत: ढ़ाल को खोज लेता है या हवाई जहाज से गिरा बिना इच्छा किये भी पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार सद्गुरु से प्राप्त ब्रह्मज्ञान का अवलम्बन करनेवाला बिना इच्छा के जीवन्मुक्ति एवं देह पात पश्चात् कैवल्य मुक्ति को प्राप्त करलेता है ।

तीर्थें चाण्डाल गृहे वा यदि वा नष्ट चेतनः ।
परित्यज न्देहमेव ज्ञानादेव विमुच्यते ॥ – शिवागीता ३/३४

हे प्रिय ! इस ब्रह्मज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानी पुरुष का प्रारब्धवशात् सोऽहम् चिन्तन अतिशय रोगावस्था में विस्मरण हो जावे तो भी उसके कैवल्य में सन्देह नहीं करना चाहिये । आत्मज्ञानी चाण्डाल घर भिक्षा लेते ही प्राण छूट जावे, काशी जैसे उत्तम तीर्थ में प्राण छूट जावे , कृष्ण पक्ष दक्षिणायन में प्राण छूट जावे, मल-मूत्र द्वार या मुख द्वार से प्राण निकल जावे, अतिशय कष्ट में चिल्लाते, रोते प्राण छुट जावे, सेवा न करने पर सम्बन्धियों को अपशब्द कहते हुए प्राण निकल जावे, शत्रु द्वारा हत्या कर दी जावे, अग्नि, जल, बिजली स्पर्श द्वारा प्राण निकल जावे तो भी इस परम भाग्यवान् की इस प्रकार देह दशा को देख इसकी मुक्ति में सन्देह नहीं करना चाहिये । यह तो ज्ञान समकाल ही मुक्त हो गया है । अर्थात् जिस काल में गुरु द्वारा ज्ञान लाभ किया था तभी से यह मुक्त दशा में विचरण कर प्रारब्ध काल व्यतित कर रहा था । ज्ञान द्वारा कालान्तर या लोकान्तर या अभ्यासान्तर मुक्ति नहीं बताता है । ज्ञान द्वारा अग्नि उष्णता वत तत्काल मुक्ति हो जाती है । जैसे प्रकाश होते ही तत्काल अन्धकार समाप्त हो जाता है ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शुद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् –गीता ९/३२

यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुमृतत्वं च गच्छति (कठ. उप.)

हे प्रिय ! स्त्री, वैश्य, और शुद्रादिक पापकर्म करने वाले चोर, वैश्या हत्यारे भी यदि किसी ज्ञानी सद्‌गुरु से अपने आत्म निष्ठा को प्राप्त होकर देहभाव एवं कर्म अहंकार का त्याग कर यदि वे साक्षी भाव में स्थित हो जाते हैं तो वे भी परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। – गीता –९/३०

हे प्रिय ! यदि अतिशय दुराचारी, पापी, परधन, परदारा हरण करनेवाले किन्तु किसी सुकृत से उन कर्मों से उपराम होकर आत्मज्ञान में प्रीति एवं निष्ठा हो जाती है । जो अब निरन्तर सर्व रूप में निजात्मा का ही अनुभव करता हुआ सदाचार से जीवन व्यतित करने लग जाता है । वह पूर्व में असाधु, दूराचारी, अधर्मी होने पर भी अब उसे साधु महात्मा ही जानना क्योंकि वह अपने अज्ञान काल वाले समस्त दुष्कर्मों का त्याग कर सत्यनिष्ठा वाला अर्थात् मैं ब्रह्म ही सर्व हूँ इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाला हो चुका है ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। – गीता –९/३

किन्तु हे आत्मन् ! जो इस तत्त्व ज्ञान रूप आत्मधर्म के प्रति श्रद्धा नहीं करते हैं वे अपने अज्ञानता के कारण कामना एवं भोगों में आसक्त हो भेद मूलक कर्म और उपासना या मंत्र, तंत्र सिद्धि आदि साधन में फंस कर मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमण करते हैं । यदि कोई उन्हें वेदान्त श्रवण, मनन की बात कहते हैं तो भी वे अश्रद्धा कर निंदा ही करते हैं ।

जो बहुरी कोई पूछन आवा , सर निंदा कर ताहि बुझावा ।

(रामायण)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।

गीता : १८/६७

हे भाई लक्ष्मण ! तेरे हित के लिये कहे हुए इस 'राम गीता' रूप परम रहस्य को किसी काल में भी कर्म, उपासना से रहित दुराचारी पुरुषों को नहीं सुनाना चाहिये और माता-पिता, गुरुभक्ति से रहित व्यक्ति को भी नहीं सुनना चाहिये तथा जो आत्मा ज्ञान में अरुचि करने वाला, अश्रद्धालु एवं सुनने की इच्छा नहीं करने वाले के प्रति भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिये तथा जो गुरु या परमात्मा की निन्दा करता हो, जो दुराचारी, मांस, मदिरा का सेवन करने वाला हो, गर्भपात करचुके हो, उसे भी यह परम गोपनीय द्रष्टा, साक्षी भाव की साधना नहीं बताना चाहिये । यदि अनाधिकारी पापी मन में यह अकर्ता-अभोक्ता, द्रष्टा, साक्षी भाव रूप ब्रह्म विद्या का दान कर दिया तो वह अत्यधिक दुराचारी, पापी होकर नरक गामी ही होगा ।

किन्तु हे प्रिय ! जो इस परम गुप्त तत्त्व ज्ञान को मेरे में निरन्तर प्रेम करने वाले, पूजा, पाठ, जप, तप, मन्दिर, तीर्थ, यज्ञ, ध्यान करने वाले,परमात्मा को तन मन प्राण से खोजने में लगे भक्तों को प्रेम पूर्वक अति सरल युक्तियों द्वारा समझावेगा उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई नहीं है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वी में कोई दूसरा हो सकेगा वह तो मेरी आत्मा ही है यह मेरा निश्चित मत है ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
मक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशय : ।।

गीता १८/६८

ऐसे ज्ञानी संतों द्वारा मैं सदा ज्ञान यज्ञ द्वारा पूजित होता रहता हूँ ।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणी तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

मुण्डकोप २/२८

अस्तु ! जो गुरुभक्ति सम्पन्न पुरुष इस 'राम गीता' महाग्रन्थ का श्रद्धा पूर्वक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करेगा तो वह इन वचनों को धारणा कर ब्रह्म स्वरूप को ही प्राप्त हो जावेगा । उसके सभी संशय नष्ट हो जावेंगे एवं सभी कर्म भस्मीभूत हो जावेंगे । अर्थात् यह जीव सब बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जावेगा ।

हे प्रभो ! यह अहंकार क्या है एवं इसका कया परिणाम घटता है इसे बताने की कृपा करे ।

हे लक्ष्मण ! देह को मैं मानना ही अहंकार है । देह से भिन्न अपने को आत्मा न जानने से ही तू दुःख व बन्धन को प्राप्त हो रहा है तू आत्मा सदा मुक्त ही है । अहंकार के मिटतें या छोड़ते ही तू कर्ता भोक्ता भावसे मुक्त हो जाऐगा । फिर धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य से भी तू मुक्त हो जावेगा । जब तक तेरे में देह अहंकार है तब तक तू आत्मा से भिन्न अपने को देह मानने के कारण दुःख को प्राप्त होता रहेगा । यह आत्मा से अपने को भिन्न देह मानना ही दुःखों का मूल कारण है ।

अब तू निश्चय कर कि मैं देह नहीं, देह से भिन्न हूँ । इस अहंकार रूपी काल सर्प को छोड़ कि मैं कर्ता हूँ, बल्कि यह निश्चय कर कि मैं द्रष्टा, साक्षी हूँ, इस विचार अमृत का पान कर । एक ही चेतन अखंण्ड ब्रह्म विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है । एक शरीर में उसे आत्मा तथा समस्टि जगत् में उसे ही परमात्मा नाम से कहा जाता है । परमात्मा ही समस्टि जगत् का कर्ता है । मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा मानने वाला निरहंकारी हो जाता है । अर्थात् अहंकार से मुक्त हो जाता है । निरहंकारी को कोई दुःखी नहीं कर सकेंगे । अहंकारी को कभी तृप्त नहीं कर सकेंगे । अहंकारी सदा चाहता है, निरंहकारी सदा दूसरों को देता रहता है । अहंकार के मिटने से ही अद्वैत का बोध होता है किन्तु लोग अहंकार को तो मजबूत किये जाते हैं और द्वैत मिथ्या है उसे जानना नहीं चाहता है । क्योंकि द्वैत मिथ्या जानने से उसका व्यष्टि अहं मिट जायेगा ।

क्षुद्र अहंकार के मिटने से उस परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ जाता है । जैसे घट टुटने से घटाकाश का सम्बन्ध महाकाश से जुड़ जाता है । घट होने से महाकाश से घटाकाश पृथक्-सा प्रतीत होता है, इसी तरह व्यष्टि अहंकार परमात्मा से पृथक् होने का भ्रम करा देता है ।

परमात्माा को पाने के लिये व्यक्ति जो पाठ, पूजा, तीर्थ, मन्दिर, ध्यान, समाधि, तिलक छापा, कंठी, माला, व्रत, उपवास, योग, यज्ञ, तप, कुण्डलणी जागरण, आदि साधन करता है उससे उसका अहंकार बढ़ता है । साधन करके ब्रह्म को पाना ऐसा मुर्खता पूर्ण कर्म है जैसे दीपक प्रकट करके सूर्य दर्शन करने का प्रयास । नित्य सिद्ध परमात्मा की प्राप्ति साधन द्वारा कभी नहीं हो सकती । साधन करने से प्राप्त परमात्मा में दूरी का भाव पैदा कराता है कि ऐसा व इतना करलूगां तो परमात्मा प्राप्त हो सकेगा । जबकि परमात्मा तो तुम्हारा स्वरूप ही है । सद्गुरु की कृपा से केवल ज्ञान नेत्र खुलाने की आवश्यकता है । जिससे भ्रान्ति निवृत्त होकर सत्य का तत्काल आत्मबोधरूप दर्शन हो जाता है कि वह परमात्मा मैं स्वयं हूँ । अपना द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप का बोध होना ही अहंकार का नष्ट होना है एवं जीव सहज मुक्त स्वरूप का अनुभव कर लेता है ।

आत्मबोध से जीव का जब व्यष्टि देह से अहंकार टूट जाता तब यह जानता है कि मैं यह सीमित जीव नहीं हूँ, सागर की तरगं मात्र नहीं हूँ बल्कि विशाल महासागर ही हूँ । महासागर तो पहले भी था किन्तु अहंकार वश मैं अपने को लहर मान भागने, डूबने, मिटने, छोटा, बड़ा रूप मान रहा था किन्तु अब मैं जान गया हूँ कि मैं महासागर ही हूँ । आज समस्त भ्रान्तियाँ मिट गई । मैं अपने वास्तविक स्वरूप द्रष्टा , साक्षी आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। संकीर्णता के समस्त घेरे टूट गये, अब मैं अखंण्ड आत्म स्वरूप में स्थित हूँ ।

चित्त का स्वभाव चंचलता है । आत्मबोध हो जाने पर भी ये वासना की तरंगे देह पर्यन्त उठेगी किन्तु अब मैं इनके द्वारा प्रभावित नहीं

होता हूँ । मैं इनका द्रष्टा, साक्षी हो इन्हें आते जाते देखता रहता हूँ । पहले ये मुझ पर शासन करती थी अब मैं इनका शासक हो गया हूँ । अब ये अपने आप उछल कूद कर शांत हो जाती है । में द्रष्टा मात्र हूँ । ये आत्मा से उत्पन्न होकर आत्मा में ही विलीन हो जाती है । मैं साक्षी मात्र इनके नृत्य से अब प्रभावित नहीं होता हूँ ।

जहां शरीर में, मैं मौजूद है वहाँ अहंकार ही है । त्याग में भी अहंकार है कि यह सब मेरा है इनका मैंने त्याग किया । ज्ञानी के जीवन में त्याग घटता है वह त्याग करता नहीं है । त्याग व ग्रहण दोनों ही अहंकार एवं व्यष्टि देह भाव का रूप है । जो तुम्हारा नहीं उसका त्याग तुम कैसे करोगे ? देहाभिमान के कारण ही वस्तु को अपनी मान कर उसके त्याग का अहंकार करते हैं । ईश्वर ने जो कुछ इन्द्रियां दी हैं उनके धर्मों का त्याग ईश्वरीय नियम के विपरीत है । ज्ञानी के कार्यों की तुलना मूढ़ पुरुष की कार्यों के साथ कभी नहीं हो सकती । क्योंकि दोनों की दृष्टि में दिन-रात, अन्धकार-प्रकाश की तरह अन्तर है । ज्ञानी कर्म को भी खेल समझता है एवं अज्ञानी खेल को भी कर्म मानता है । ज्ञानी संसार को स्वप्नवत् समझता है जबकि अज्ञानि स्वप्न एवं नाटक को भी सत्य समझ सुखी-दुःखी हो जाता है ।

हे लक्ष्मण । ज्ञानी यह जानता है कि आत्मा अर्कता है, कर्म प्रकृति द्वारा होते हैं तथा मैं प्रकृति से भिन्न चैतन्य, द्रष्टा, साक्षी अाात्मा हूँ । ज्ञानी अहंकार रहित हो कर्म को होते देखता रहता है । कोई भी कर्म आत्मा द्वारा नहीं किया जाता है । कर्म करो किन्तु ईश्वरीय कार्य समझकर करो । अपने को निमित्त मात्र उपकरण जानो । तब कर्ता पन का अहंकार उदय नहीं होगा । कर्त्ता का अभिमान ही अहंकार का जन्म दाता है । कर्ता केवल एक परमात्मा है ।

सतं भी अहंकार को बढ़ाने के लिये शोभा यात्रा निकालते हैं । बैंड बाजा, धोढ़ा रथ, चांदी का सिंहासन पर बैठ जय-जयकार कराते हैं।

तो कोई नग्न भ्रमण करते हैं, तो कोई अन्न का त्याग कर जल, फल, पत्राहारी बन जाते हैं ।

हे प्रभो ! विक्षेप से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है ?

हे भैया लक्ष्मण ! तुम इस चिंता से मुक्त होने के लिये मेरी बात को ध्यान पूर्वक सुनो ! जिस प्रकार आकाश में वायु के अनेक बड़े छोटे तूफान, आंधी, भूचाल, अति वृष्टि होती है, बादल, बिजली होती है किन्तु आकाश सदा उन सभी घटनाओं से अस्पर्शित असंग ही बना रहता है । एक और द्रष्टान्त से समझ । जैसे समुद्र में अनन्त तरंगे उठती है, नष्ट होती है किन्तु इस हलन, चलन, उठ, बैठ के होते रहने पर भी जल की सत्ता ज्यों की त्यों अचल ही विद्यमान रहती है । ठीक इसी प्रकार तुझ आत्मा रूपी अनन्त सागर में चित्त की चंचलता के कारण अच्छे-बुरे विचार रूपी तरंगे उठती है एवं नष्ट होती है, किन्तु इनसे तू साक्षी, आत्मा आकाशवत् अप्रभावित, असंग ही बना रहता है । विक्षेप के उदय अस्त द्वारा तेरे शुद्ध, असंग, द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप की न वृद्धि होती है न कुछ हानि ही होती है । अतः चित्त की चंचलता को देखने वाला तू इससे क्यों प्रभावित होता है ।

हे भैया राम ! ज्ञानी के लिये हेय का त्याग एवं उपादेय का ग्रहण होना कब तक कर्तव्य है ?

हे लक्ष्मण ! यह सम्पूर्ण सृष्टि एक है, अखण्ड है, उससे भिन्न यहां कुछ नहीं है, यह सब एक आत्मा का ही विस्तार है । हेय व उपादेय की कल्पना तभी हो सकती है, जब मनुष्य अपने को सृष्टि से भिन्न एक शरीर मात्र समझता है । जब अपने अखण्ड आत्म स्वरूप का बोध हो गया तब उसमें हेय उपादेय की कल्पना कैसे हो सकती है । यह मैं नहीं हूँ, यह मैं हूँ । दृश्य मैं नहीं, द्रष्टा मैं हूँ । मैं जड़ नहीं हूँ, मैं चेतन हूँ ऐसा बोध भी अज्ञानी को अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान कराने में प्रथम सहयोगी है । परन्तु पूर्ण बोध होने पर भेद समाप्त हो जाते हैं । जैसे अपने कहलाने वाले

एक शरीर के ऊपर–नीचे के सभी अंग मेरे हैं, उनमें कौनसा हेय एवं उपादेय कहा जावेगा ? कोई हेय उपादेय नहीं, जब मैं ही एक सर्वत्र फैला हुआ हूँ ।

नाम, रूप की भिन्नता से, शरीर की भिन्नता से अज्ञानी को हिन्दु, मुस्लिम, जैन, बौध, इसाई, सिक्ख में, पशु–पक्षी में, जड़–चेतन में, द्रष्टा– दृश्य में भेद दिखाई पड़ता है । जीव आत्मा में, आत्मा परमात्मा में या जीव ईश्वर में भेद प्रतीत होता है किन्तु यह सब उसी एक चेतन से जुड़े हैं । जैसे कूवो की अनेकता दिखाई पड़ने पर भी उनका जल स्त्रोत एक ही होता । उसी प्रकार आत्मा धुरी समस्त चराचर, जड़, चेतन की एक है उसी आधार से शरीर चक्र चल रहा है । द्वैत दृष्टि के कारण ही समस्त दुःखों का जन्म होता है । अतः तू ही सब कुछ है । यहां हेय उपादेय अन्य कुछ नहीं यही–यथार्थ ज्ञान है । ज्ञानी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में सम बुद्धि रखता है । निवृत्ति से द्वेष बुद्धि पैदा होती है एवं प्रवृत्ति से अनुराग पैदा होता है ।

हे प्रभो ! द्वैत भाव दुःख रूप है तब गुरु की उपयोगीता किस रूप में हो सकेगी ?

हे लक्ष्मण ! बाह्य गुरु भीतरी वाले गुरु का साक्षात्कार कराने तक उपयोगी है । भीतरी गुरु आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर उस बाह्य गुरु का भी विस्मरण कर देना चाहिये, जिसकी कृपा से आत्म ज्ञान हुआ है । यह संसार तो विस्मरण करने योग्य है ही बल्कि ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, राम, कृष्ण, ईश्वर आत्मा परमात्मा आदि का भी विस्मरण करना ही पूर्ण ज्ञान एवं अखण्डता का बोध है । क्योंकि स्मरण करने में दो सिद्ध हो जाते है, एक मैं तथा दूसरा जिसका स्मरण किया जाये, जप किया जाये, चिन्तन किया जाये । पूर्ण बोध होने पर मैं भी नहीं रहता तब स्मरण कौन करेगा ? अतः दो के रहते शान्ति, मुक्ति नहीं हो सकती ।

जैसे रामकृष्ण परमहंस के गुरु तोतापुरीजी ने रामकृष्ण के चिन्तन को पूर्ण अद्वैत रूप बनाने के लिये काली की उपासना का त्याग करा दिया था । निर्गुण निराकार आत्मा का बोध कराने हेतु ही सगुण साकार रूप में गुरु भगवान प्रकट होते हैं । जीव को अपने आत्म स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होने पर गुरु भी बीच से हट जाता है, तब जीव स्वयं ब्रह्म के साथ एकत्व रूप हो जाता है ।

हे भैया ! पूर्ण ज्ञानी को मैं किस प्रकार जान सकुंगा ? हे लक्ष्मण ! जैसे भूख निवृत्त हो जाने पर पुनः भोजन करने की इच्छा नहीं होती है । इसी प्रकार अपने पूर्णानन्द स्वरूप का दृढ़ बोध हो जाने पर उस महापुरुष को शरीर के लिये जितना आवश्यक है उतना ग्रहण करता है । उसका जीवन सन्तोषी होता है वह सदा एकाकी रमण करता है । समूह, सम्प्रदाय, शिष्य नहीं बनाता है, दूसरे की अपेक्षा नहीं करता है, अपनी सिद्धता का प्रदर्शन भी नहीं करता है । नगर, गृह, परिवार के मध्म रहकर भी एकाकी रमण करता है । संगी-साथी, मित्र -शत्रु, हितैषी-द्वैषी नहीं जानता है । दूसरे के स्मरण से तनाव उत्पन्न होता है अहंकार बढ़ता है । दूसरे का स्मरण होने से उसे नैतिकता, शिष्टाचार का नकली मुखोटा लगाना पड़ता है ।

जो तत्त्वज्ञानी है वे इस जगत् की भीड़ के बीच रहते हुए भी कभी दुःखी नहीं होते । क्योंकि उनकी दृष्टि में समस्त जगत् उसी एक आत्मा का विचार प्रतीत होता रहता है । जब यहां दूसरा कोई नहीं, फिर दुःख किससे हो एवं कैसे हो ? कोई अपने को दुःख नहीं देता ।

ज्ञानी चेष्टा रहित हो जाता है । जिसे सब कुछ मिलगया फिर किस बात के लिये चेष्टा करे । उसकी इन्द्रियां भी विफल हो जाती है; क्योंकि अब विषयों के प्रति आकर्षण ही समाप्त हो जाता है । क्योंकि परमानन्द रूप निर्वासनिकता आ जाने से क्षुद्र सुख के लिये आकर्षण स्वतः समाप्त हो जाता है, प्रतिज्ञा कर छोड़ना नहीं पड़ता ।

ऐसा व्यक्ति न जागता है न सोता है, न पलक खोलता है, न बन्द करता है । अर्थात् यह सब क्रियाएं शरीरिक है जो स्वभाव से होती अपने आप होती है । ज्ञानी आत्मनिष्ठ होने से वह इन्हें नहीं करता है । वह इन सबसे दूर खड़े रहकर केवल देखता मात्र है । ज्ञानी की यही परम दशा है । वह जानता है कि यह प्रकृति के गुणों द्वारा उनके स्वभाव में हो रहे हैं, मैं मात्र द्रष्टा हूँ । ज्ञानी कर्त्तापन से मुक्त मात्र कर्मों का साक्षी रहता है ।

ज्ञानी, अज्ञानी की तरह बाह्य कर्म सभी करता है । खाता, पीता, सोता, जागता किन्तु भीतर से अपने द्रष्टा, साक्षी आत्मभाव में जागा रहता है । अज्ञानी भी कर्म करता है किन्तु भीतर से सोया रहता है । कबीर आत्म ज्ञान को प्राप्त होकर कपड़ा बुनते थे, रैदास जूते सिलाई करता था, सेन बाल काटता था । ज्ञानी संसार के कर्म करता हुआ दिखाई देने पर भी वह भीतर से सदा अलिप्त, असंग एवं साक्षी रहता है । वह अनाग्रह पूर्वक जो स्वाभाविक है, करलेता है । इसलिये वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है ।

हे लक्ष्मण ! ऐसा ब्रह्मज्ञान माला, पूजा, व्रत, उपवास, योग, यज्ञ, तप करने से प्राप्त नहीं होता, न मन्दिर, तीर्थ, हिमालय कुम्भ स्नान से, न कुण्डलनी जागरण से प्राप्त होता है । न चित्र मूर्ति के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करने से,न 'बोलबम्ब' चिल्लाने से, न कावड़ उठाने से होता है न भूमी पर लोटने, न भागवत पढ़ने, न कंठीमाला धारण करने से, न चिमटा लेकर अखाड़ा बनाने से होता है । न नग्न रहने से होता है न कांटों पर लेटने, न अग्नि पर चलने से होगा । मोक्ष का सम्बन्ध पदार्थों के त्याग से नहीं है ।

हे लक्ष्मण ! जिसे यह सम्पूर्ण सृष्टि आत्मवत ज्ञात हो जाती है वही वासना रहित ज्ञानी मुक्त है । जिसको किसी वस्तु या व्यक्तिकी अपेक्षा है वह उससे बन्धा है । वासना, अपेक्षा से मुक्त ही मुक्त होता है । दूसरो से सुख की आशा रखने वाला गुलाम कभी मुक्त नहीं हो सकता । अतः

ज्ञानी की पहचान उसके उपदेश से होती है कि वह क्या कहता है । उसके वचन ही सत्य होते हैं, किन्तु उसके कर्म, उसके–वचन से भिन्न भी हो सकते हैं ।

एक बार गोपियों को यमुना पार दुर्वासाजी के पास जाने की इच्छा हुई । पूजा, आरती, भोग की सम्पूर्ण तैयारी कर यमुना तट पहुंची तो यमुना नदी में पूरा पानी भरा हुआ था । उस पार जाने का कोई मार्ग नहीं दिखा । तब कृष्ण से आकर उस पार जाने का उपाय पूछा । कृष्ण ने कहा कि यमुना से कहना कृष्ण बाल ब्रह्मचारी यदि है तो मार्ग दे दो । गोपियों ने ऐसा ही यमुना से कहा और मार्ग मिल गया ।

परीक्षित की भी जन्म के समय प्राण गति रुक गई थी; तब वशिष्ठ, शुकदेव व अनेक योगी, यति, तपस्वी वहां उपस्थित थे । कृष्ण ने कहा जो पूर्ण ब्रह्मचारी हो वह इसे स्पर्श कर देगा तो यह जीवन प्राप्त कर लेगा। यह सुन किसी का ऐसा करने का साहस नहीं हुआ । तब कृष्णने कहा कि यदि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ तो यह बालक जीवित हो जाये और वह बच्चा जीवित हो गया । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी की पहचान तो मात्र ज्ञान से ही होती है किसी प्रकार के बाह्य कर्म एवं आचरण से नहीं होती है । ज्ञानी सम्प्रदाय की रचना नहीं करता । जहां जीवित ज्ञानी सद्गुरु नहीं है वहाँ सम्प्रदाय होता है । सत्य का जाति, भाषा, प्रान्त, आश्रम आदि से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता ।

हे लक्ष्मण ! तत्त्वज्ञानी उच्छृंखल दिखाई पड़े तो भी वह शोभा पाता है । क्योंकि उसमें कोई विकार नहीं होता है । वह भोगों की क्रीड़ा को नाटक वत्, खेल की भांति तटस्थ होकर साक्षी भाव से भोगता है ।

हे प्रिय लक्ष्मण ! आत्मा स्वयंसिद्ध नित्य प्राप्त हमारा–तुम्हारा स्वभाव है । स्वभाव को पाने हेतु किसी प्रकार के साधन करेने की जरूरत नहीं रहती । जैसे अग्नि में उष्णता, बर्फ में शीतलता, चीनी में मधुरता, करेला, नीमपत्र, चिरायते में कड़ुवापन बिना साधन के नित्य सिद्ध है । इसी प्रकार आत्मा, मुक्ति, आनन्द ब्रह्म हमारा स्वरूप है । हमने भूल से

अपने को शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को अपना होना मान लिया है । दृश्य में द्रष्टाभाव का अपने होने का भ्रम अहंकार पैदा कर लिया है । अपने आत्मा को जानने के लिये इस अनादि देहाध्यास की निवृत्ति का करना ही एक मात्र साधन अभ्यास है । इस आत्म निष्ठा के अतिरिक्त अन्य साधन करने वाले इस भव बन्धन के भ्रम से कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे । क्योंकि अनात्म साधन करने से कर्त्तापन का अहंकार बढ़ता है एवं प्राप्त आत्म स्वरूप में दूरी का, अप्राप्ति का भ्रम दृढ़ होता जाता है । आत्मा नित्य प्राप्त हमारा स्वभाव है, उसे जानना मात्र है । जिसने सद्गुरु कृपा से यह जानलिया कि मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ उसने परमात्मा को भी साथ-साथ जानलिया । क्योंकि आत्मा परमात्मा में नाम मात्र का भेद है । एक देह की चेतना को आत्मा कहा जाता है एवं समष्टि जगत के जीवों की चेतना को परमात्मा कहा जाता है। अतः अपने को आत्मा जानना ही ब्रह्म को जानना है और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है । वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है फिर करना शेष नहीं रहता है । सभी भ्रान्तियाँ, सभी भेद नष्ट हो जाते हैं । सर्वत्र अपनी ही व्यापकता सर्व रूपता प्रतीत होती है, यही मुक्ति है ।

हे लक्ष्मण ! आत्म ज्ञान हेतु अपने देहभाव का समर्पण करना ही एक मात्र साधन है । अतः सभी प्रकार के अनात्मा अभ्यास को छोड़कर एक आत्मभाव में बुद्धि की धारणा बनाना ही साधन है । जीव को ब्रह्म बनना नहीं है जीव ब्रह्म ही है । अज्ञानी ब्रह्म को जान लेने की इच्छा करता है तो भी वह ब्रह्म नहीं हो सकता । यदि वह प्रथम से ब्रह्म नहीं है तो जानने मात्र से, इच्छा मात्र से ब्रह्म नहीं हो सकेगा । किन्तु ज्ञानी, अज्ञानी , मनुष्य, पशु, पक्षी सभी का ब्रह्म ही स्वरूप है किन्तु उस प्राप्त स्वरूप को भूल जाने के कारण उसे पृथक् मान रहे हैं । जान लेने से, स्मृति प्राप्त कर लेने से कि जिसे मैं खोज रहा था वह मैं ही हूँ । इतने से सत्य बोध से अप्राप्त की भ्रान्ति मिट जायेगी। जिसे खोया नहीं उसे खोजना कैसे ? उसकी तलाश कैसी ? जो हमारा स्वभाव है उसके लिये क्या

प्रयास करना । परमात्मा अप्राप्त है एवं साधन करने से मिल जाएगा, यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है। आत्मा किसी स्वर्ग, बैकुण्ठ में नहीं है । न हिमालय में है, न तीर्थ, मन्दिर में है । वह तो मृग की नाभि में स्थित कस्तूरी की तरह सब के हृदय का साक्षी रूप नित्य विद्यमान है वह केवल बुद्धि से विस्मृत है उसे पुनः स्मृति में लाना है । बाधाओं, भ्रान्तियों को दूर करना है । वह सदा मैं रूप में उपलब्ध ही है ।

हे लक्ष्मण ! यह अपना स्वरूप साधन, प्रयास, अभ्यास, परिश्रम से प्राप्त नहीं होता है । वह प्राप्त ही है केवल यह बात सद्गुरु , सत् शास्त्रों से जानलेना है । साक्षी मात्र हो जाना ही पर्याप्त है । चेष्टा,अभ्यास से प्राप्त ही संसार है । नरक जाने के आजतक अनन्त अनन्त साधन, परिश्रम किये किन्तु जो मुक्ति एक क्षण में प्राप्त हो जाती है उसके लिये ध्यान नहीं दिया । संग्रह में प्रयत्न करना पड़ता है किन्तु त्याग एक क्षण में, बिना परिश्रम के हो जाता है। यह देहासक्ति का त्याग ही मुक्ति है । तुम मुक्त थे ही । केवल सद्गुरु कृपा से बन्धन की भ्रान्ति मिट जाए तो बैठे बैठे ही मुक्त हो गये । 'न कहीं गये, न आये' न उपवास, न आसन, न प्राणायाम, न कुण्डलिनी जागरण की जरूरत है । न बन्ध लगाना है, न मुद्राएं लगाकर बैठने की जरूरत है । जब तुम्हारा यह व्यष्टि भाव मिटेगा तभी परमात्मा प्रकट है ।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नहि । द्वैत भाव उसका समाप्त हो जाता है जिसने यह जान लिया कि यह सब मैं आत्मा हूँ आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ ऐसी भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। उसका कोई चुनाव नहीं होता है । स्वयं को देह एवं कर्त्ता भोक्ता जीव मानना ही बन्धन है ।

आत्मज्ञान में दो ही बाधाएं मुख्य है । एक शरीर, दूसरा मन । अज्ञानी की सभी चेष्टायें, चिन्ता इन्हीं दो के आधार पर चलती रहती है । ज्ञानी देह एवं मन से पार एक तीसरी दिशा पर स्थित हो जाता है, जो इन

दोनों का साक्षी बना इन दोनों की स्थिति को देखता रहता है । हे भाई ! जिसने इस मन की सत्ता को अभाव रूप जान लिया उसने बहुत बड़ी बाधा से मुक्ति प्राप्त करली है । मन के समस्त विकारों से ऊपर उठकर जिसने अपने को एक द्रष्टा , साक्षी आत्मा रूप जान लिया वह ज्ञानी का जीवन धन्य हो गया । वह समस्त इन्द्रियों से उनके कर्म होने पर उनका साक्षी रहता है । वह ज्ञानी की सहज समाधि बनी रहती है । प्रयत्न कर लगाई गई समाधि कृत्रिम है । परमात्मा की सर्वत्र समान सत्ता व्यापक होने से वह किसी को किसी क्षण अप्राप्त नहीं है । अतः जो कुछ प्राप्त होगा वह संसार ही है । परमात्मा की प्राप्ति बोध मात्र से, भावना मात्र से हो जाती है । संसार कर्म से प्राप्त होता हैं ।

आत्मा अदृश्य है । उसे देखा नहीं जा सकता उसकी मैं रूप मे अनुभुति होती है । उसका बोध होता है । देखने की वासना ही आत्मानुभूति में महान बाधा है । मन दर्पण वासना शून्य होने पर ही उसकी अनुभूति होती है।

हे लक्ष्मण ! शरीर का जन्म माँ द्वारा होता है तथा आत्मभाव का जन्म सद्गुरु द्वारा होता है । वह शुद्र को ब्राह्मण बना देता है, जीव को परमात्मा बना देता है । इसलिये गुरु का महत्व ईश्वर से भी ऊंचा है । गुरु साक्षात् ब्रह्म है ।

हे भ्राता लक्ष्मण ! क्या तुमने मेरे वचनों को एकाग्रता एवं श्रद्धा पूर्वक श्रवण किया ? यदि किया है तो अब तेरे मन की क्या स्थिति है यह तू मुझे स्पष्ट बता ।

हे प्रभो ! मैं आपके उपदेश श्रवण कर कृत कृत्य हो गया हूँ एवं यह जाना कि जिसे पाना था वह मैं प्रथम से ही हूँ । एवं जहां पहुँचना चाहता था वहां पहले से ही खड़ा हूँ । ऐसा बोध हो जाने के कारण अब मुझे कुछ भी करना, जानना, पाना, देखना शेष नहीं रहा । मैं अपने आप में पूर्ण हूँ । मेरे अतिरिक्त पंच भूत, तन्मात्रा, अहंतत्त्व, महतत्त्व, प्रकृति,

माया, ईश्वर, जीव, जगत केवल नाम मात्र है । सत्य में तो केवल मैं ही विभिन्न रूप में विद्यमान हूँ इसलिये मेरे लिये राग–द्वेष, ग्रहण–त्याग, हेय–उपादेय, अपना–पराया, देश–विदेश, सजातिय –विजातिय आदि के सभी भेद भ्रम दूर हो गये हैं । स्वप्न से जाग जाने पर जैसे स्वप्न नगर असत हो जाता है उसी प्रकार यह जाग्रत जगत मुझे अज्ञान निद्रा से जागने के बाद स्वप्न समान असत ही भास रहा है ।

हे भैया ! मैं अपनी महिमा में स्थित हो गया हूँ । आत्मा ही मेरी महिमा है । मेरी इस महिमा को कोई छीन नहीं सकता । यह अविनाशी, सत्य, सनातन एवं शास्वत है जो सदा मैं हूँ । इसे कोई छीन नहीं सकता। इसे कोई अलग नहीं कर सकता । जिसने स्वयं की महिमा को नहीं जाना वही दूसरों से अपनी महिमा, प्रशंसा चाहते हैं । लेकिन दूसरे से प्राप्त महिमा, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा कभी भी दूसरों द्वारा छीनी भी जा सकती हैं । वे ऊपर चढ़ाने वाले नीचे गिरा सकते हैं किन्तु इसमें हमारी स्वतन्त्रता नहीं हैं । उनके हाथों में हमारी चाबी है । जिन्होंने हमें गुब्बारे की तरह फुलाया है वे कभी भी हवा निकाल सकते हैं । किन्तु मैं अपनी महिमा में अब स्थित हूँ ।

पूजा, पाठ, जप, तप, मन्दिर, तीर्थ, ध्यान, धारणा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शास्त्र, गुरु, सत्संग आदि सभी साधन मात्र इस प्राप्त आत्म स्वरूप का अनुभव कराने हेतु ही थे । आत्मानुभूति के बाद इन समस्त साधनों का कोई उपयोग नहीं है ।

'उत्तिर्णे तु गते पारे नौकाया: किं प्रयोजनम्'

जब नदी पार उतर गये तब नौका का क्या प्रयोजन ? फिर तो नौका का त्याग ही कर्तव्य है । इसी प्रकार आत्मज्ञान के पूर्व ही उन समस्त साधनों का उपयोग था, स्वरूप बोध के बाद अन्य साधन अपने बन्धन का ही हेतु है । अद्वैत भी द्वैत सापेक्ष है । मेरे में न द्वैत है, न अद्वैत है । मैं केवल नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा स्वरूप हूँ । मैं

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय चारों से पृथक द्रष्टा साक्षी हूँ, ये चारो अवस्था अन्तःकरण की है ।

मैं आत्मा में अवस्थित हो गया हूँ इसलिये इन पंच भूतों के विकार रूप देह संघात के अहंकार से मुक्त, निर्लिप्त, असंग, निर्दोष, निर्विकार, शुद्ध अपने को जान रहा हूँ । अब कोई विजातीय तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता है । मुझे आत्म दर्पण पर यह जगत के चित्र क्षणिक प्रतिविम्बित होते हैं किन्तु स्थायी नहीं ठहर पाते हैं । मैं मात्र साक्षी हूँ ।

आत्म विज्ञान की भी मुझे आवश्यकता नहीं है क्योंकि अध्ययन से जो जाना जाता है वह बौद्धिक जानकारी होता है । मैं तो स्वयं आत्मा हूँ । अतः मुझे शास्त्र पढ़ने की भी जरूरत नहीं है । आत्मा मेरा स्वरूप है अन्य सभी उपाधियाँ झूठे चेहरे हैं जो अज्ञानता से मैंने ओढ़ रखे थे । अब वे नकली मुखोटों को मैंने उतार कर फेंक दिये हैं ।

मेरे कर्म नहीं तो मैं भोक्ता भी नहीं है । जब मैं कर्ता – भोक्ता नहीं तो बन्ध भी मुझ में नहीं, जब बन्ध नहीं तो मुक्ति भी मुझे नहीं, और जब मेरी जीवन्मुक्ति नहीं तो विदेह मुक्ति भी कल्पना मात्र कथन है । मैं शुद्ध, चैतन्य, साक्षी मात्र हूँ । मेरे में संचित कर्म व प्रारब्ध कर्म का अस्तित्व भी कहा है ? मैं भाव रहने से कर्म होते हैं व उन्हीं का फल होता है। न मैं देह हूँ, न मैं कर्ता हूँ, मैं इन दोनों से मुक्त हूँ । मैं जहां हूँ वहीं मुक्त हूँ इसलीये मुझ में मुमुक्षुता भी नहीं है । मोक्ष मैं हूँ, मोक्ष मुझसे पृथक् प्राप्तब्य वस्तु नहीं है । न मैं बद्ध था, न मुक्त हुआ हूँ । मैं बन्ध मोक्ष से पृथक् सदा एक रस रहता हूँ ।

जिसने आत्मा को जान लिया उसके लिये साधन, साध्य एवं सिद्धि सब व्यर्थ हो जाते हैं । यह साधन, साध्य, सिद्धि का भेद एवं चाह अज्ञानी के लिये ही है । मैंने आत्मा को न जाना है, न उसे पाया है, क्योंकि मैं स्वयं ही आत्मा हूँ । जानना, पाना, देखना, खोजना सदा अन्य विजातीय एकदेशीय अनात्म पदार्थ के सम्बन्ध में होता है । अज्ञान के

कारण ही मैंने अपने को आत्मा से भिन्न शरीर माना था । अब मैं अपने आत्म स्वरूप में दृढ़ता से स्थित हूँ मेरे में विक्षेप नहीं इस लिये एकाग्रता भी कर्तव्य नहीं है ।

हे प्रभो ! मेरे में प्रमाण गत दोष नहीं है इसलिये शास्त्र श्रवण भी मुझे कर्तव्य नहीं है । प्रमेयगत दोष नहीं , इसलीये मनन भी कर्तव्य नहीं है । मुझे विपरीत ज्ञान नहीं है इसलीये मुझे निदिध्यासन भी कर्तव्य रूप नहीं है । मुझ में अज्ञानता नहीं है इसलिये उपदेश की भी आवश्यकता नहीं है । उपदेश शास्त्र आत्म बोध से रहित अज्ञानी के लिये ही कर्तव्य रूप है ।

आत्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, जिसे आत्मा मैं, रूप से उपलब्ध है । गया है । अत: सभी साधन, शास्त्र, उपदेश मेरे लिये उसी प्रकार व्यर्थ हो गये है जैसे नदी पार होने के बाद नौका अथवा वर-वधु के मिलन के बाद बराती ।

आत्म बोध की महिमा

'अभेद दर्शनं ज्ञानं '

जीव ब्रह्मको एक जानना ही ज्ञान है ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्य पापं विनाशयेत ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेद बुद्धि विनाशयेत ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्म पापं विनाशयेत ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्यु पापं विनाशयेत ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्व शोकं विनाशयेत ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटि दोषं विनाशयेत ।

तेजो बिन्दु उप.

देहाभिमान की तरह जिसे अपने ब्रह्म स्वरूप में दृढ़ता हो जाती है उस जीव के समस्त पाप, ताप, सन्ताप, शोक, मोह, जन्म-मृत्यु, भय समाप्त हो जाते हैं ।

देहात्म ज्ञान वज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम् ।
आत्मन्येव भवेहास्य सनेच्छन्नपिमुच्यते ।।

(वराह उप.)

अज्ञान काल में जैसी देह भाव में दृढ़ निष्ठा बनी रहती है उसी तरह मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस निष्ठा को प्राप्त करने वाले का देह भाव समाप्त हो जाता है । फिर वह आत्मनिष्ठ ज्ञानी महापुरुष बिना इच्छा के भी जन्म-मृत्यु रूप भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

■ ■ ■

परमधाम कहां है ?

हे प्रभो ! जहाँ जाकर जीव को पुनः इस मृत्यु लोक में नहीं आना पड़ता है एवं आप भी पुनः उसी नाम रूप से यहाँ प्रकट नहीं होते हैं वह आपका परमधाम कहाँ है ?

हे प्रिय भ्राता लक्ष्मण ! समस्त प्राणियों के अन्तिम प्राप्तव्य स्थान को परम धाम कहते हैं । जैसे तरंगों का प्राप्तव्य स्थान जल है, प्रतिविम्ब का प्राप्त स्थान विम्ब है, अलंकारो का प्राप्त स्थान स्वर्ण है, बर्फ का प्राप्तव्य स्थान जल है, घटकाश का प्राप्तव्य स्थान महाकाश है तथा स्वप्न संसार का प्राप्तव्य स्थान स्वप्न साक्षी है, उसी प्रकार सम्पूर्ण स्थावर; एवं जंगम प्राणियों का प्रााप्तव्य स्थान सर्व साक्षी, स्वयं प्रकाश निर्गुण निराकार व्यापक सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ ।

हे लक्ष्मण ! जैसे तरंग पूछे कि जल कहां है ? आभूषण पूछे कि स्वर्ण कहां है ? स्वप्न नगर पूछे कि स्वप्न साक्षी कहां है ? उसी प्रकार तेरा प्रश्न है कि परमधाम कहां है ?

लहरी ढूंढे नीर को, कपड़ा ढूंढे सूत ।
जीव ढूंढे ब्रह्म को तीनों ऊत के ऊत ।।

अतः जो उत्तर तरंगों, अलंकारों, स्वप्न नगर के जीवों को दिया जाता है वही उत्तर तुम्हें देता हूँ कि जैसे तरंगों से जल, अलंकारों से स्वर्ण, स्वप्न जीवों से, स्वप्न साक्षी से भिन्न नहीं बल्कि नित्य प्राप्त है, उसी प्रकार सर्व जीवों सहित तुझको परमधाम सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं नित्य प्राप्त हूँ । अतः इस नित्य प्राप्त स्वरूप परमधाम की प्राप्ति का एक मात्र

साधन तो स्वरूप ज्ञान ही है । स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त परमधाम जाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

हे लक्ष्मण ! आत्मा परमात्मा एक तत्त्व है उसे पाना नहीं है वह नित्य प्राप्त है । प्राप्त कहना भी भूल लगता है, क्यों कि प्राप्तव्य पदार्थ अन्य होता है एवं प्राप्ति करने वाला अन्य होता है । यह भिन्नता है ही नहीं, परमात्मा तेरा मेरा स्वरूप है उसे मैं जानता हूँ , तू नहीं जानता है । अज्ञान से तुझे विस्मृत हो गया है । उसकी मात्र स्मृति करना है । उस में जागना है । आत्मा मे निष्ठा करना ही पर्याप्त है । उस नित्य ब्रह्म मे विश्वास करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है । क्योंकि उत्पत्ति का कारण साकार में आसक्ति है । वह नष्ट हो गई है जिसको एवं निराकार में प्रीति हो गई है तो फिर उत्पत्ति अर्थात् पुनर्जन्म किस लिये ?

आत्मानुभूति के लिये ध्यान, समाधि, उपासना, कर्म, भक्ति आदि कुछ भी साधन करने की जरूरत नहीं है यह सब साधन तो आत्म अनुभूति की पात्रता हेतु आवश्यक है । सारा प्रयास पात्रता के लिये ही करना है फिर तो घटना एक क्षण में घट जावेगी । जैसे बिजली फिटिगं के लिये समय लगता है फिर तो एक क्षण में प्रकाश हो जाता है । मोक्ष कर्म से उत्पन्न नहीं होता, वह ज्ञान से भी उत्पन्न नहीं होता है; ज्ञान से अप्राप्ति का भ्रम दूर होकर नित्य प्राप्त स्वरूप का बोध हो जाता है ।

हे लक्ष्मण ! तेरा बन्धन यही है कि तू अपने से पृथक् किसी सातवे आसमान पर बैठे किसी कल्पित ईश्वर को द्रष्टा मान रहा है । याद रख ! आत्मा ही परमात्मा है; यही द्रष्टा है और यह द्रष्टा आत्म। तू है । ध्यान-समाधि कर तू किसे प्राप्त करना चाहता है ? अनित्य कर्मों द्वारा नित्य आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है । अज्ञान से आये भ्रम की स्वरूप ज्ञान द्वारा निवृत्ति करना ही कर्तव्य है । अज्ञान से ही आत्मा से

भिन्न किसी अदृश्य लोक में बैठे ईश्वर की कल्पना कर अपने को तू कर्ता तथा उसको द्रष्टा एवं कर्म फल प्रदाता मानता है। ज्ञानी अपने को सदा द्रष्टा साक्षी आत्मा ही जानते हैं ।

हे लक्ष्मण ! यह आत्मा को खोजने वाला भटक जाता है । जैसे मृग कस्तूरी को खोजने के कारण ही भटक जाता है क्योंकि खोजने वाला अपनी तरफ नहीं देख बाहर-बाहर ही देखता, भागता, खोजता रहता है । खोजने पर परमात्मा नहीं मिलता । मुक्ति के लिये यह निश्चय होजाना चाहिये कि मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ । मैं, द्रष्टा, साक्षी असंग आत्मा हूँ; यह दृश्य देह संघात मैं नहीं हूँ, बस मुक्ति के लिये इतना ही पर्याप्त है । यदि तू इस समस्त दृश्य प्रंपच का द्रष्टा साक्षी अनुभव कर लेता है तो समझ लेना कि तुझे आत्मबोध हो गया है । यदि तू ऊपर से द्रष्टा, साक्षी एवं भीतर से देह मानता रहेगा तो पुनर्जन्म को प्राप्त होगा ।

■■■

पंच कोश

शरीर	स्थूल	सूक्ष्म			कारण
कोश	अन्नमय	प्राणमय	मनोमय	विज्ञानमय	आनन्दमय
सामग्री	पंच महा भूत	पंचप्राण पंचकर्म इन्द्रिय	पंचज्ञान इन्द्रिय, मन	पंचज्ञान इन्द्रिय, बुद्धि	स्वरूप अज्ञान

साधो सहज समाधि भली

हठ योग द्वारा जो समाधि लगाते हैं वह स्थिर नहीं रह पाती है । उस समाधि से क्षणिक शान्ति तो उपलब्ध होती है किन्तु अखण्ड शान्ति का अनुभव नहीं होता है । अपने में अखण्ड आनन्द का अनुभव, बिना आत्म विचार के अन्य साधन से नहीं हो सकता है । इसलिये सहज समाधि जो ज्ञान-विचार द्वारा प्राप्त होती है उसकी सही विधि किसी सद्गुरु से जानना चाहिये । सन्त कबीर कहते हैं-

''साधो सहज समाधि भली''

गुरुकृपा जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली,

आंख न मूदों कान न रूंधों, काया कष्ट न धारों

खुले नैन पहिचानों हंसी हंसी, सुन्दर रूप निहारो ।

हठयोग सम्बन्धित एक घटना याद आती है-एक नट ने राजा को प्रसन्न करने हेतु किसी योगी गुरु से प्राणायाम् द्वारा प्राणो ं को रोकना सीख लिया । उसने ढिंढोरा पिटा राज्य दरबार में गड्ढा खुदवा स्वयं सबके सम्मुख एक वर्ष के लिये उसमें बैठ गया । अपने को मिट्टी की छत द्वारा बन्द करवा लिया । एक वर्ष बाद जब राजा द्वारा समाधि खुलवाई गई तो उठते ही वह नट राजा से इनाम मांगने लगा । राजा ने इनाम देकर उसे बिदा किया । वह फिर नट का काम करने गांव-गांव जाकर यह समाधि का नाटक दिखा पैसा कमाने लगा । वर्तमान में भी कई हठयोगी २, ४ घंटे प्राणगति सूक्ष्म कर बैठ जाते हैं फिर प्राणगति प्रारम्भ कर लेते हैं ।

एक हठयागी ने ६ महीने की समाधि लगाई, बक्से में बन्द होकर रहा । डाक्टरों ने उसका निरीक्षण किया, पोलिस ने पहरा दिया । ६ माह के बाद ताला खोला गया सबको उसके प्रति बहुत श्रद्धा हो गई । एक जमीदार ने उसे अपने यहाँ श्रद्धा पूर्वक सेवा परायण हो योग सीखने हेतु रखा। वह एक माह पश्चात् जमीदार की जवान लड़की को लेकर भाग निकला ।

इन दृष्टान्तों से यही निश्चय होता है कि ऐसी हठ पूर्वक अविचार से लगाई गई समाधि द्वारा मन की चंचलता भी नष्ट नहीं होती है । इसलिए शोक एवं दु:खों से छूटने हेतु विवेक, विचार जन्य ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान-विचार से विषयों की आसक्ति हट जाती है । तब समस्त सुख, भोग संसार, स्वप्नवत् मिथ्या ही प्रतीत होने लगते हैं । हठ पूर्वक इन्द्रियों को उनके विषय न देने से इन्द्रियाँ तो कृश हो जाती हैं किन्तु विषयासक्ति नष्ट नहीं होती है । विषयासक्ति का नाश तो अपने को देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि आदि का साक्षी जानने से ही होता है । भगवान श्रीकृष्ण, अर्जुन को यही आशय निम्न श्लोक में दर्शा रहे हैं-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं द्रष्ट्वा निवर्तते ।।

गीता २/५९

हठ समाधि तो प्राणों की कसरत मात्र है । उससे निर्विकल्पता नहीं होती है और न उससे शान्ति ही प्राप्त होती है । हठ समाधि से उठने पर वह दंभी-योगी एक साधारण मनुष्य की तरह ही लोभी, कामी, राग-द्वेष भेद बुद्धि वाला हो जाता हैं । दीर्घ कालीन हठ समाधि की अपेक्षा क्षण भर की विचार समाधि का महत्त्व अनन्त गुणा बड़कर है । ज्ञानी को यह नश्वर विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते हैं जैसे कि अज्ञानी मुर्ख हठ योगी को आकर्षित कर पाते हैं । तत्त्व ज्ञानी अपनी

आत्म निष्ठा के कारण संसार के क्षणिक सुखों की उसी प्रकार इच्छा नहीं करता है जिस प्रकार जल की इच्छा वाले व्यक्ति को महान जलाशय प्राप्त हो जाने पर वह छोटे छोटे सरोवरों, कूपों की इच्छा नहीं करता हैं । इसी बात को भगवान अर्जुन को निम्न श्लोक में कह रहे हैं–

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।

गीता २/४६

देहाभिमाने गलिते ज्ञातेन परमात्मनः ।
यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः ।।

जिनका आत्म विचार के द्वारा देह अभिमान सर्वथा नष्ट हो जाता है उनको बिना प्रयास सहज समाधि ही बनी रहती है । उनकी दृष्टि वृत्ति जहाँ जहाँ जाती है, वह सर्वत्र एक ब्रह्म का ही अनुभव करती रहती है । इस कारण उसकी सर्वदा समाधि ही रहती है ।

■■■

कस्तूरी कुंडल बसे

ढूंढ़ने से उस पदार्थ की प्राप्ति हो पाती है, जो वस्तु प्राप्त कर्ता से पृथक् हो । यदि वस्तु प्राप्त कर्त्ता का स्वरूप ही है तो वह ढूंढने से नहीं बल्कि जानने से, यथार्थ बोध मात्र से ही उसे प्राप्ति का अनुभव हो सकेगा ।

कस्तूरी कुंडल बसे,मृग ढुंढे बन माहीं ।
ऐसे प्रभू घट घट बसे, मूरख जाने नाहीं ।।

जिस प्रकार मृग की नाभी में कस्तूरी होते हुए भी वह स्वरूप अज्ञानता के कारण स्वयं की नाभी से आने वाली सुगंध को अन्य बाह्य पदार्थ की सुगन्ध जान उसे ढुंढने हेतु सारे जीवन प्रयत्न करता रहता है तब भी उसे बाहर कस्तूरी की प्राप्ति हो नहीं हो पाती है ।

इसी प्रकार जीव सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी स्वरूप अज्ञान के कारण उसे ब्रह्म अप्राप्त-सा प्रतीत हो रहा है । जीव, ब्रह्म प्राप्ति हेतु जप, तप, पूजा, पाठ, मन्दिर, तीर्थ, दान, यज्ञ, योगादि जितने भी साधन करता है, उतना ही वह कर्तृत्वाभिमान में बंध जाता है । स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त परमात्म प्राप्ति के लिये कोई भी साधन समर्थ नहीं है, क्योंकि वह व्यापक होने से किसी को अप्राप्य नहीं है । जब जीव किसी सद्गुरु की शरण में जाता है तभी उनके उपदेश से उसकी अविद्या ग्रन्थि की निवृत्ति होते ही उसे परमात्मा, आत्मा रूप से प्राप्त-सा अनुभव में आने लगता है । इससे यह नहीं मानना चाहिये कि ब्रह्म ज्ञानोदय से पहले अप्राप्त था एवं अब सद्गुरु प्राप्ति से साधन द्वारा प्राप्त हुआ है । ब्रह्म तो जीव का अपना स्वरूप होने से मृग को कस्तूरी की तरह नित्य प्राप्त ही है ।

जीव के लिये ब्रह्म पाने जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं हैं । जैसे अपने गले में पहने मंगल सूत्र को महिला खेत पर काम करते समय खोल अपने साड़ी के पल्ले में बांध काम करने लगी । काम से लौट संध्या के समय हाथ, मुंह धो साड़ी बदल जब घर में बैठी तो गले पर हाथ पड़ते ही अपना गला खाली देख मंगल सूत्र को अपने खेत पर ढूंढने गई, वहां न मिलने पर घर में प्रत्येक स्थान पर ढूंढने लगी, जब कहीं नहीं मिला तब बैठकर रोने लगी एवं आंसू पौछने साड़ी का पल्ला अपने हाथ में लिया तैसे ही उसे पल्ले में भारी पन एवं गांठ प्रतीत हुई । उसने उसे खोल देखा तो उसका वही खोया हुआ मंगल सूत्र प्राप्त-सा होगया । किन्तु विचार कीजिये क्या वह खोया था ? जो खोया नहीं उसे मिला कहना भी भूल ही है । यह प्राप्त की ही प्राप्ति हुई है ।

पाया कहे सो बावरा खोया कहे वह क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर ।।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म जीव का अग्नि उष्णवत् नित्य स्वभाव होते हुए भी अज्ञानता के कारण अप्राप्त जैसा प्रतीत हो रहा है । फिर जीव सद्गुरु शरण में जाकर यह जान लेता है कि मैं आत्मा स्वभाव से ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म हूँ । मेरे स्वरूप में विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान उपाधियों का कोई अन्तर नहीं पड़ता है । मैं एकरस निर्विकार, अखण्ड, असंग, द्रष्टा, ब्रह्म हूँ । यह कभी नहीं हुआ कि अज्ञान काल में मैं जीव रूप हो बंधन को प्राप्त हुआ एवं अब सद्गुरु द्वारा ज्ञान करके मैं मुक्त होकर ब्रह्म बना । मैं सृष्टि के आदि में जैसा था वैसा सृष्टि काल में हूँ एवं सृष्टि प्रलय में भी मैं वैसा ही रहूँगा । मैं सत्य सनातन ब्रह्म हूँ ।

जैसे सूर्य में कभी अंधकार नहीं होता है उसी प्रकार मुझ आत्म-ब्रह्म में कभी बन्धन नहीं होता है । श्रुति भी कहती है ''**ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति**' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है अन्य नहीं । '**विमुक्तश्च**

विमुच्यते' मुक्त ही मुक्त होता है बंधा कभी मुक्त नहीं होता है । जीव प्रथम से ही मुक्त है वही ज्ञान द्वारा मुक्त होता है ।

पानी अग्नि के सहयोग से उष्ण गुण वाला हो जाता है एवं तभी तक उष्ण रहता है जब तक उसे अग्नि की उष्णता मिलती रहती है एवं अग्नि के सम्बन्ध विच्छेद होते ही वह शीतल स्वभाव में लौट आता है । इस प्रकार यह जीव सद्‌गुरु प्राप्ति एवं साधनों द्वारा मुक्त ब्रह्म नहीं होता है और न सद्‌गुरु एवं साधन के अभाव में पुन: जीव भाव को प्राप्त हो बन्ध को प्राप्त हो सकेगा । यह सदा एकरस अखण्ड निर्विकार नित्यमुक्त ब्रह्म ही था है एवं रहेगा । शंकराचार्यजी कहते हैं–

'जीवो ब्रह्मैव नापर:'

वेदान्त सत्संग एवं सद्‌गुरु द्वारा जीव को उसके नित्य प्राप्त ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति एवं नित्य निवृत्त अविद्या बन्धन की ही निवृत्ति होती है । परमार्थत: ज्ञानी अज्ञानी में किंचित् भी अन्तर नहीं है । अन्तर जानने एवं न जानने का ही है । अज्ञानी अपने को जीव जान कर्ता–भोक्ता मान दु:खी होता है । ज्ञानी अपने को अकर्त्ता, साक्षी, ब्रह्म जान सदा आनन्द स्वरूप बना रहता हैं । अज्ञानता से ब्रह्मता घटती नहीं है एवं बोध होने पर ब्रह्मता बढ़ती नहीं है । तात्पर्य यह है कि जीव स्वयं सिद्ध, एकरस, अखण्ड, सच्चिदानंद ब्रह्म ही है किन्तु अज्ञानता के कारण ब्रह्म को अपने से अन्य जान उसे पाने हेतु दु:ख को प्राप्त होता है ।

इति श्रीमद अध्यात्मरामायणौ उमा महेश्वर संवादे उत्तराकाण्डे पञ्चम: सर्गान्तर्गता राम गीता सम्पूर्ण ।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुख भाग्भवेत ।।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

* समाप्त*

भजन

साधो ! आप एक जग माही जी ।

दूजा भ्रम स्वप्न सम जानो,
ज्यों दर्पण में छाई जी ।

स्वप्न नगर को कल्पित जानो,
स्वप्न साक्षी है सत्य जी ।।

जैसे जलहिम फेन तरंगे ,
है जल वस्तु अभिन्न जी ।

चुड़ी चैन अंगूठी पायल,
नहीं स्वर्ण से भिन्न जी ।।

अधिष्ठान से अध्यस्त वस्तु,
होती नहीं कभी भिन्न जी ।

अध्यस्त मात्र कल्पना जानो,
ज्यों रस्सी में सर्प जी ।।

कल्पित सर्प से हानि न होवे,
क्यों उसे मारन जावो जी ।

अधिष्ठान रस्सी के दिखते,
अध्यस्त सर्प नसावत जी ।।

सब खिलोना खाड़में भासे,
खाड़ खिलोना माही जी ।

कहत निरंज्जन ब्रह्म जगत में,
जगत ब्रह्म के भाही जी ।।

शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहम्
वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।
अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ । शिवोऽहम....

अखिल विश्व का जो परम आत्मा है ।
सभी प्राणियों का वही आत्मा है ।
वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ । अमर...शिवोऽहम्....

अमर आत्मा है मरणशील काया ।
सभी प्राणियों के जो भीतर समाया ।
वही......अमर.....शिवोऽहम्......।

जिसे न शस्त्र काटे न अग्नि जलावे ।
बुझावे न पानी न मृत्यु मिटावे ।
वही.....अमर.....शिवोऽहम्......
है तारों सितारों में आलोक जिसका ।
है चंदा व सूरज में आभास जिसका ।
वही....अमर..........शिवोऽहम्.....

सर्व रूपों में है वास जिसका ।
नहीं तीनों कालों में हो नाश जिसका ।
वही......अमर.........शिवोऽहम् ......

अजर और अमर जिसको वेदों ने गाया ।
वही ज्ञान अर्जुन को हरि ने सुनाया ।
वही ज्ञान गुरुदेव ने हमको बताया ।
वही.....अमर.........शिवोऽहम्....

■ ■ ■

स्वामी निरंजन ग्रंथावली